हमारी खेती

कल-आज-कल

अरुण डिके

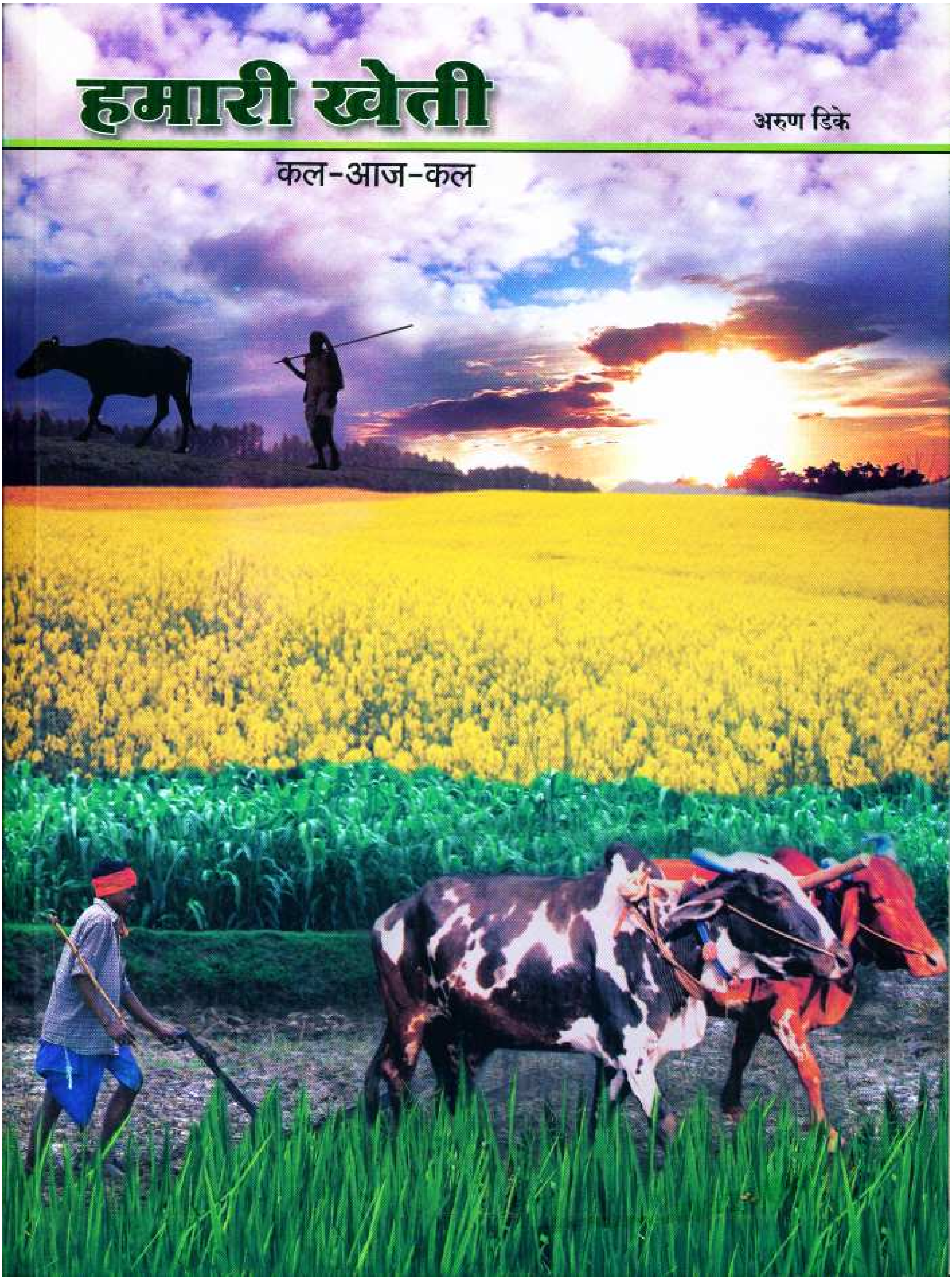

प्रकाशक :
एज्युकेशनल एड-क्राफ्ट
6, सिख मोहल्ला, मेन रोड,
इन्दौर - 452 007

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण
मार्च 2005

द्वितीय संस्करण
मार्च 2006

कीमत रु. 120/-

मुद्रक :
नईदुनिया प्रिन्टरी
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर
फोन-0731-2763121

हमारी खेती

कल-आज-कल

लेखक :
अरुण डिके

समर्पित

मेरा यह प्रयास मेरे बड़े भाई नाटककार बाबा डिके, भाई समान पत्रकार राहुल बारपुते और कलागुरू विष्णु चिंचालकर जो सभी उम्र में मुझसे 15–20 वर्ष बड़े होकर भी सदैव मेरे, मित्र दार्शनिक और मार्गदर्शक रहें हैं उनकी चिर स्मृतियों को समर्पित है।

अरुण डिके

53–बी, प्रेमनगर,

इन्दौर

दि. 02/09/2004

अनुक्रमणिका

नं.	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	भूमिका	
2.	निवेदन	5
3.	हमारी खेती प्रारंभ	6
4.	कल की खेती पुरातनकालीन खेती भाग–1 अध्याय–1	8
	(अ) वराह मिहिर	8
	(ब) भावमिश्र	14
	(स) पाराशर ऋषि	16
	(द) कौटिल्य	20
	(क) कश्यप	21
	(ख) सुरपाल	22
	(ग) आजके संदर्भ में वृक्षायुर्वेद का महत्व	29
	(घ) प्राचीन खेती में स्त्रियों की भागीदारी	31
5.	आज की खेती–मुगल–अंग्रेज समकालीन भाग–2 अध्याय–2	32
	(अ) दारा–शिकोह	32
	(ब) हमारी फसलें	34
	(स) भारत में अकाल और कृषि सुधार समिति की स्थापना	41
	(द) भारत की मिट्टी, जल, खाद	42
	(क) खेती की विशेषताएँ	46
	(ख) कृषि उद्योग और निर्यात	47
	(ग) जमीन से जुड़ी समस्याएं	48
	(घ) भारत के कृषि प्रक्षेत्र	50
	(च) कृषि शिक्षा	51
	(छ) कृषि विभाग की स्थापना	52
	(ज) खेती में बदलाव	53
	(झ) संकर किस्में	57
6.	कल की खेती प्रारंभ भाग–3 अध्याय–3	60
	(अ) जैव प्रौद्योगिकी	62
	(ब) अनुवांशिकी परिवर्तन के संभावित खतरे	63
	(स) उतक संवर्धन (टिश्यु कल्चर)	64
	(द) जैविक खेती	65
	(क) जैव गतिकीय खेती (बायोडायनामिक)	67
	(ख) केंचुआ खाद	68
	(ग) जैव उर्वरक	68
	(घ) जैविक पौध रक्षक	69
	(च) शहरी और सामुदायिक खेती	72
7.	हमारी खेती से जुड़े कृषि अनुसंधान और कृषि शिक्षा भाग–4 अध्याय–4	73
8.	कृषि विभाग अध्याय–5	84
9.	हमारे बैंक अध्याय–6	86
10.	जमीन से जुड़े देसी और विदेशी कृषि वैज्ञानिक अध्याय–7	88
	(अ) डॉ. कार्वर	88
	(ब) अलबर्ट हावर्ड	92
	(स) फुकुओका	97
	(द) श्री. अ. दाभोलकर	102
	(क) डॉ. रिछारिया	105
11.	संदर्भ सूची	107

भूमिका

मैंने रफी अहमद किदवई कृषि संस्थान सीहोर (म.प्र.) के नियमित विद्यार्थी के रूप में विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन से सन् 1964 के जून माह में एम.एस.सी. (कृषि वनस्पति शास्त्र) पदवी प्राप्त की। महाविद्यालय छोड़ा और सही मायने में तभी से मेरी खेती की पढ़ाई प्रारंभ हुई जो आज भी बदस्तूर जारी है।

विगत चालीस वर्षों में कृषि महाविद्यालयों के बाहर जो 'हमारी खेती' मैंने देखी वह महाविद्यालयों के अन्दर क्यों पढ़ाई नहीं जाती यह प्रश्न मुझे आज भी सताता है।

यह मेरा विश्वास है कि भारत का सर्वोच्च दिमाग (ब्रेन) गांवों में खेती कर रहा है क्योंकि उसके पीछे भारत की शानदार खेती की परंपरा रही है जो पाराशर–ऋषि से प्रारम्भ होती है। उनके अलावा अनेक ऋषि–मुनियों ने नदी, जंगल, पहाड़ और वनस्पतियों का पहले गहरा अध्ययन किया (पाराशर ऋषि तो खेत में झंडा गाड़कर हवा के रुख का भी अध्ययन किया करते थे) और बाद में कृषि विज्ञान रचा। दुर्भाग्य से चार सौ साल की गुलामी ने हमारे साक्षर समाज को इतना आत्मग्लानि से भर दिया कि ज्ञान का भंडार जैसी संस्कृत भाषा भी हमें मृत लगने लगी। कृषि महाविद्यालय में मुझे पहला ही पाठ पढ़ाया गया कि भारत की खेती पिछड़ी हुई और दकियानूसी है और विकास का सूरज पश्चिम में ही उगता है।

यह पुस्तक पढ़ने के बाद यदि आपको लगे कि खेती का मूल मंत्र भारत में ही हैं तो मेरे लिये यह गौरव की बात होगी।

यह पुस्तक यदि किसी भी अन्य व्यवसाय अथवा पढ़ाई में व्यस्त युवक या युवती को खेती की तरफ मोड़ती हैं तो मैं पुस्तक लिखने का अपना प्रयास सार्थक समझूँगा।

अरुण डिके

द्वितीय संस्करण पर विशेष

मात्र 8 माह में हमारी खेती–कल–आज–कल का द्वितीय संस्करण आपके हाथों देते हुए प्रसन्नता हो रही है। मैं कोई स्थपित लेखक नहीं हूँ न मेरी कोई वैसी महत्वाकांक्षा है। खेती व्यवसाय से जुड़ा होने के कारण जो अच्छा देखने–सुनने और पढ़ने को मिला, वह किसानों, कृषि स्नातकों और खेती से जुड़े लोगों तक पहुँचाऊँ यही मेरी इच्छा थी।

मैंने जिन विशिष्ठ एवं अतिविशिष्ठ व्यक्तियों को पुस्तक भेजी थी उनमें राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम, श्रीमती सोनिया गाँधी, के. सुदर्शनजी, हिमाचल और पश्चिम बंगाल के राज्यपाल क्रमशः श्री कोकजे एवं श्री गोपाल कृष्ण गाँधी ने पुस्तक को सराहा। श्री गाँधी ने तो पुनः पत्र लिखा कि इस प्रकाशन का फायदा लोगों को मिल सकता है यदि इसका वितरण सही किया जाए। इन पंक्तियों ने निश्चित ही मेरा हौसला बुलन्द किया हैं। कई प्रान्तों के किसानों ने भी पुस्तक खरीदकर प्रसन्नता व्यक्त की। मैं उनका आभारी हूँ। खंडवा, मुंबई, नरसिंहपुर, पटना, भावनगर, आसनसोल (बंगाल) से किसानों और 'पुस्तक प्रेमियों' ने भी पुस्तक को सराहा है। **(अरुण डिके)**

निवेदन

"हमारी खेती" पुस्तक को मैंने चार भागों में बाँटा है – कल की खेती भारत के प्राचीन युग की खेती है जो भृगु, पाराशर, सुरपाल, वराहमिहिर और चाणक्य से प्रारंभ होती है। चाणक्य ने तो राज्य शासन के मंत्र भी दिये थे। उस युग की खेती की झलक मात्र मैंने अपनी किताब में दी है। उद्देश्य यह है कि पाठकों की प्राचीन खेती के प्रति रुचि बढ़े। एक बात और – प्राचीन युग की खेती को जैसे का तैसा व्यवहार में लाना असंभव है क्योंकि उस युग की कृषि कार्य माला में जंगली जानवरों के रक्त, मांस से बीज और भूमि उपचार भी बताए हैं, और मैंने जानबूझकर उन अनुशंसाओं को नहीं लिया है।

आज की खेती ऋषि भावमिश्र के बाद प्रारंभ हुई मुगलकालीन और अंग्रेजों के शासन की खेती है। आजादी के बाद हमारे यहाँ अमेरिका के लैंडग्रांट कॉलेज की तर्ज पर हर प्रदेश में कृषि महाविद्यालय चालू हुए। इस युग में हरित क्रान्ति आई और गई। संकर और सुधरे किस्मों की रसायनों के उपयोग पर आधारित खेती का सिलसिला चालू हुआ जो आज ढलान पर ही सही मगर कायम है।

आने वाले कल की खेती गॅट करार, विश्व व्यापार समझौता और वैश्वीकरण के परिपेक्ष्य में और पाश्चिमात्य प्रौद्योगिकी पर है जो दिखने में तो आकर्षक है मगर जोखिम भरी है। कहीं–कहीं तो हमारी सामाजिक मान्यताओं को चुनौती देने वाली है। खैर यह तो समय ही बताएगा कि कौन सी खेती श्रेष्ठ है।

चौथे भाग में मैंने उन वैज्ञानिकों की जीवनी और उनके कार्य के बारे में संक्षिप्त में लिखा है जो इतने वर्षों बाद भी आज खरे उतरते हैं। एक तो वे जमीन से जुड़े वैज्ञानिक थे और दूसरे उन्होंने शाश्वत खेती पर कार्य किया।

इस पुस्तक में जिन मित्रों और स्नेहीजनों ने परोक्ष या सक्रिय रूप से योगदान दिया है मैं उनका ऋणी हूँ। विशेषकर कृषि वैज्ञानिक डॉ. वाय. एम. उपाध्याय, डॉ. व्ही.एन. श्रॉफ, डॉ. अरविन्द दाभोलकर, डॉ. पदमाकर गायकवाड और पद्मश्री टी. जी. के. मेनन, वृक्षों की पहचान में कुशल वनस्पतिशास्त्र व्याख्याता (निवृत्त) डॉ. वसंत दीवानजी तथा संस्कृत शब्दों के सरल हिन्दी नामों के लिए श्रीमती सुलभा रत्नाकर पंडित का योगदान उल्लेखनीय है।

मैं एशियन एग्री हिस्ट्री फाउंडेशन के न्यासी डॉ. वाय. एल. नेने और श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय तिरूपति के (स्वर्गीय) डॉ. इ. ए. वी. प्रसाद के परिवार का हृदय से आभारी हूँ, कि जिन्होंने अपनी पुस्तकों से कुछ चित्र छापने की अनुमति दी।

19 नवम्बर 2004 **अरुण डिके**

हमारी खेती

प्रारम्भ :–

भारत में खेती और खेतिहरों का इतिहास नवपाषाण युग (C–3000 ईसा पूर्व) से प्रारंभ होता है ।

ताम्बे की खोज के साथ ताम्र प्रस्तर युग (C–2700–700 ईसा पूर्व) में कई प्रकार के अनाज मिलने के संकेत मिले हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में गेहूँ, जौ, रागी, चना आदि अनाजों की खोज के प्रमाण हैं। ताम्बे से कुल्हाड़ी, मछली फांसने के तार, काँटे, तीर और चूड़ियाँ बनती थी, उसी समय पत्थर से खेती के औजार बनाये जाते थे।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के साथ ही मनुष्य ने गुफाओं की जगह झोपड़ियों में रहना प्रारम्भ किया । मिट्टी के बर्तनों में खाना बनने लगा। कपड़ों की सिलाई होने लगी। घरों में गाय, कुत्ता, सूअर, भेंड़, बकरियां और मुर्गी पालन भी प्रारम्भ हुआ।

हमारें यहाँ वेदों और पुराणों में समृद्ध खेती के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। पाराशर, गर्ग, वृहदगर्ग, कश्यप, नारद, विष्णुगुप्त (चाणक्य) शुक्रमाया, बृहस्पति, साक, गरूतमान, सप्तऋषि, बादरायण, नग्नजीत, सारस्वत, मनु, विश्वकर्मा, वज्र, श्री दव्यर्द्धन, भारद्वाज, कपिला और कानभूक जैसे खगोल और ज्योतिष शास्त्रियों ने कृषि के विविध ज्ञान और विज्ञान के दरवाजे खोले। प्रारम्भ से ही हमारे यहाँ गणित, नक्षत्र ओर खेती का गहरा सम्बन्ध रहा है और शायद इसलिए भारत की खेती समृद्ध थी और यह देश चार हजार साल केवल खेती पर ही जीवित रहा।

ईसा पूर्व 1500 से 1000 के बीच आर्य एशिया मध्य प्रान्त से यहाँ आए और उन्होंने द्रविड़ों को दक्षिण में खदेड़ा। वह भारतीय खेती का स्वर्णकाल था।

भारत में विदेशी आक्रमणों के साथ कई वनस्पतियाँ भी आईं। इसकी शुरूआत 327 ईसा पूर्व में ग्रीस आक्रमण से हुई। सन 1498 में दक्षिण के कालीकट में पुर्तगाल के वास्कोडिगामा ने भारत में कदम रखा। वह अपने साथ कई महत्वपूर्ण औषधियां, वनस्पति जिनमें गोरक्षाचिंच, लहसून, नागफनी, कुलंजन, अकलकाढ़ा, धतूरा, स्वर्णपात्री, सोनामुखी कर्पूर, जीरा, हल्दी प्रमुख हैं। 1627 से 1658 तक सम्राट शाहजहाँ के बेटे दाराशिकोह ने भारतीय कृषि में बागवानी को बढ़ावा दिया, उसने योगवशिष्ठ, भगवद् गीता और उपनिषदों का अभ्यास किया। कश्मीर में सेब, नाशपाती, अनार, अखरोट, पिस्ता, जर्दालू, आलू, आलूबुखारा, शहतूत, बादाम, पान आदि फलों की बागवानी को बढ़ावा दिया।

17 अगस्त 1757, को भारत में ईस्ट इण्डिया कंपनी का आगमन हुआ। धीरे–धीरे उन्होंने भारत में अपने छद्म व्यापार का मकड़जाल फैलाया। व्यापार के पीछे पीछे अंग्रेज सेना भी भारत में आई। सन् 1818 में यहाँ बाकायदा अंग्रेज राज प्रारंभ हुआ। सन् 1800 में पैदा हुए थॉमस मैकाले ने 2 फरवरी 1835 को भारत शासन को शिक्षा प्रणाली पर एक अहवाल सादर किया जिसे तुरंत लागू किया गया। मैकाले शिक्षा पद्धति ने तो भारत का मनोविज्ञान ही बदल दिया। अपने ही देश के बारे में भारतीय अनभिज्ञ हो गए। हैरानी की बात है कि आज हमें आजादी मिले 55 साल बीत चुके हैं लेकिन आज भी वह अनभिज्ञता बदस्तूर जारी है। मैकाले ने भारत की शिक्षा पद्धति में जो बदलाव लाए उसके प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं :–

1) यूरोप के साहित्य और विज्ञान को देश में सख्ती ले लागू किया जाए।

2) भारत में शिक्षा पर दी जाने वाली सारी रकम केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही खर्च की जाए।

3) संस्कृत पाठशालाओं और मदरसों में पढ़ रहे छात्रों को दी जाने वाली छात्रवृत्ति तुरंत बंद की जाए।

4) पौर्वात्य साहित्य की छपाई के लिए कोई भी रकम न दी जाए।

बावजूद इन बन्धनों के देश की संस्कृत पाठशालाएं चलती रहीं और आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में दिन ब दिन निखार आता गया। लेकिन अन्य क्षेत्रों में विशेषकर खेती में हमारी पारम्परिक विद्वत्ता खेती और किसानों तक ही सीमित रही। वह कृषि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों तक नहीं पहुंची। स्वतंत्रता संग्राम ने अवश्य पुराने ग्रन्थों में, खासकर संस्कृत भाषाओं में छुपा पारम्परिक ज्ञान भण्डार जनमानस के पटल पर ला रखा। पश्चिम के विद्वान भी अब यह बात मानते हैं कि प्रतिभा और कुशाग्रता की हमारे यहाँ कभी भी कमी नहीं रही । नक्षत्रों का भ्रमण, भूगर्भशास्त्रीय प्रणाली, धरती पर उग रहे विभिन्न वृक्ष और वनस्पतियों तथा भूजल का खेती से क्या रिश्ता है इसका पूरा विवेचन हमारे पुराने ग्रन्थों में ही देखने को मिलता है।

"हमारी खेती" समझने के लिए हमें पुरातन कालीन खेती से लेकर आज तक जो बदलाव आए हैं उनका अध्ययन करना पड़ेगा। हम इस अभ्यास को तीन हिस्सों में बाँटते हैं।

1) पुरातन कालीन खेती

2) मुगल तथा अंग्रेज शासन काल से लेकर आजाद भारत में अब तक चली आ रही आज की खेती।

3) कल लागू होने वाली खेती।

कल की पुरातन कालीन खेती

हमारे यहाँ वेदों और पुराणों में खेती पर विस्तृत रूप से लिखा गया है। ऋग्वेद का कृषिसूक्त पूरा खेती से सम्बन्धित है। महाभारत में मृत्यु से पूर्व भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को धर्म उपदेश दिया था। उन्हीं के आग्रह पर युधिष्ठिर ने भगवान कृष्ण से दीक्षा प्राप्त की थी। कृष्ण ने 15 चरण सिखाए उनमें से 10 चरण अन्न उत्पादन और अन्नदान पर थे तथा शेष 5 चरण पृथ्वी सार पर थे कि किस तरह पंचमहाभूतों द्वारा यह पृथ्वी व्यापी गई है।

यद्यपि कृषि के मूल में पाराशर ऋषि का कार्य सर्वोच्च माना जाता है परंतु विष्णुगुप्त (कौटिल्य), कश्यप, मनु, भारद्वाज, वराह मिहिर ने भी खेती और खेती से जुड़े अन्य पहलुओं जैसे मौसम, वर्षा, भूजल, वनस्पति, ग्रामसंस्कृति, ग्रामस्वराज्य आदि का विस्तृत विवेचन किया है। सुरपाल और सारंगधर ने बीजों से लेकर खेती के सम्पूर्ण विधि विधानों पर उल्लेखनीय खोज की थी। तमाम विश्व में आधुनिक कृषि विज्ञान ने तरक्की के साथ–साथ जो समस्याएँ और उलझनें पैदा की हैं उनके रहते हुए भी आज हमारी खेती यदि किसी ठोस धरातल पर खड़ी नजर आती है तो उसका पूरा श्रेय उन ऋषि–मुनियों के तापस को जाता है, जिन्होंने कभी भी खेती को प्रकृति से अलग नहीं किया।

मौसम तथा नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त किये बिना खेती संभव ही नहीं है। यहाँ तक कि जल, बादल और हवा का खेती से रिश्ता कितना गहरा है यह आज जल के लिए त्राहि त्राहि करने वाले किसान या सामान्य नागरिक भी महसूस करते होंगे। यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे जीवन के सबसे महत्वपूर्ण इकॉलाजी (Ecology) के लिए हिन्दी भाषा में कोई उपयुक्त शब्द नहीं है, जहाँ Ecology है वहीं पर मानव सभ्यता विकसित हुई है। हमारे ऋषि–मुनि यह जानते थे कि न केवल हमारा शरीर वरन् सारा ब्रह्मांड पंचमहाभूतों के तत्वों से भरा पड़ा है। उनका, स्मरण अध्ययन और दोहन किए बिना जीवन सम्भव ही नहीं है। इन ऋषि–मुनियों, खासकर पाराशर, वराह मिहिर, कौटिल्य, कश्यप, सूरपाल और भावमिश्र के क्रियाकलापों का मूल सार पंचतत्वों का गहरा निरीक्षण और अध्ययन था।

अ.1 वराहमिहिर

केवल खेती का ही नहीं परन्तु हमारे जीवन का भी मूल तत्व जल है। जल के सभी पहलुओं का वराहमिहिर ने इतना गहरा अध्ययन किया था कि केवल बोध द्वारा ही वे नतीजों को देख, परख और समझ लेते थे। उनके अवलोकन आज भी वैज्ञानिक परिभाषाओं में खरे उतरते हैं। वराहमिहिर ने ये अवलोकन कलासारस्वत मनु और बलदेव ऋषियों से प्राप्त किए थे। वराहमिहिर ने भूगर्भशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र ,प्राणीशास्त्र, भौतिक तथा रसायनशास्त्रों का अध्ययन किया था। उनकी यह विशेषता थी कि वे जल से सम्बन्धित सभी शास्त्रों का समग्र रूप से अध्ययन करके ही किसी वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचते थे। उनका यह कथन था कि प्रकृति विशाल ऊर्जा का स्त्रोत है जिसका अध्ययन टुकड़ों–टुकड़ों में नहीं किया जा सकता। उन्होंने भारत के शुष्क और अर्द्ध शुष्क क्षेत्र में व्याप्त जल का अध्ययन किया था।

वराहमिहिर के शुष्क क्षेत्र में किए गए कुछ अध्ययन बानगी के लिए इस प्रकार हैः–

- जहाँ औदुम्बर (गूलर) वृक्ष खड़ा है उससे 3 हाथ अर्थात लगभग 80 इंच दूरी पर पश्चिम दिशा में ढाई पुरुष (15–20) फीट गहराई में जल का उद्गम है। यदि उस स्थान की खुदाई की जाए तो 1 पुरुष गहराई पर काजल जैसा काला पत्थर तथा सफेद रंग का सांप होना चाहिए।
- जहाँ अंजन वृक्ष है उसके उत्तर दिशा में दीमक का ढ़ांचा है, उस स्थान से पश्चिम दिशा में 31/2 पुरुष गहराई में जल उपलब्ध हो सकता है। उस स्थान पर आधा पुरुष खुदाई करने पर सफेद रंग की छिपकली तथा 5 हाथ (90 इंच) गहराई पर भूरे रंग के पत्थर उसके 90 इंच गहराई पर गहरे काले रंग की, फिर पीले रंग की और अन्त में सफेद रंग की रेतीली मिट्टी मिलेगी।
- सप्तपर्णी वृक्ष के आसपास यदि दीमक का ढ़ांचा हो तो उसके उत्तर दिशा में आधा फुट दूरी पर 5 पुरुष गहराई (25 से 30 फीट) में पानी का संकेत है। आधे पुरुष (यानी 3 से 31/2 फीट) गहराई पर हरे रंग का मेंढक मिलेगा। उसके आसपास पीली मिट्टी वाला पत्थर तथा उसके नीचे उत्तर दिशा में बहने वाला पानी मिलेगा।
- वे चमकदार वृक्ष जिसकी शाखाएँ लम्बी और नीचे झुकी हुई होती हैं और जिसके पत्ते छोटे होते हैं वहां आसपास पानी होने के संकेत मिलते हैं जबकि खोखले और खुरदुरे झाड़ों के आसपास कहीं भी पानी नहीं मिलेगा।
- घास रहित भूमि के आसपास यदि कहीं घास का पट्टा दिखे या घास भरी भूमि पर घास रहित पट्टा दिखे तो वहाँ पानी के संकेत मिलते हैं।
- कांटेदार वृक्षों के बीच बगैर कांटे वाला वृक्ष और बगैर कांटे वाले वृक्षों के समूह के बीच कांटेदार वृक्ष का मतलब वहाँ पानी का संकेत है।
- जब पैदल चलते समय भूमि पर पैरों की आवाज आए तो उसके उत्तर दिशा में पानी होने का संकेत मिलता है।

चित्र क्र.1 : 2 मार्शो वाला खजूर का पेड़ नीचे भूजल का स्पष्ट संकेत देता हुआ। (ग्राउंड वाटर इन वराहमिहिर - वृहतसंहिता -डॉ. इ.ए.वी. प्रसाद)

- शुष्क क्षेत्र में यदि दो माथों वाला खजूर का पेड़ दिखे तो वहाँ पानी का संकेत है। (देखिए चित्र क्र. 1)
- जिस भूमि के पट्टे से भाप या धुआँ निकलता दिखे वहाँ पानी का संकेत मिलता है।
- जब किसी खेत में फसल अपने आप सूख जाती हो या सफेद पड़ जाती हो वहाँ 2 पुरुष (यानी 12 से 15 फीट) गहरा पानी मिलेगा।
- जिस जगह ताम्बे के रंग की मिट्टी निकले और जिसमें रेती हो वहाँ भरपूर पानी रहता है। जहाँ लाल और भूरे रंग की और काले रंग की मिट्टी हो वहाँ अच्छे पानी के संकेत हैं। बादामी रंग की मिट्टी के नीचे खारा पानी और नीले रंग की मिट्टी के नीचे मीठा पानी होता है ।
- यदि कोई चट्टान हथौड़े से न टूटती हो उस पर यदि टेमरू और पलाश के ठूंठ जलाए जाए और जब पत्थर लाल रंग का हो जाये तो उस पर चूने का पानी डालने से वह टूट जाता है ।

चित्र क्र.2 : जुड़े हुए दो पेड़ नीचे भूजल का संकेत देते हुए।
(संदर्भ- ग्राउंड वाटर इन वराहमिहिर्स वृहत संहिता)
-डॉ. इ.ए.वी. प्रसाद

- यदि एक किस्म का वृक्ष दूसरे किस्म के वृक्ष से जुड़ा हो तो उस जगह जल के संकेत मिलते हैं। उन्होनें 9 प्रकार के अलग–अलग वृक्षों के जोड़ों का अभ्यास किया जहाँ भूजल की सम्भावनाए। ये जोड़े इस प्रकार हैं :– (देखिए चित्र क्र. 2)

1. पलाश और बेर
2. बिल्व और गूलर
3. रोहित (टिकोमा अनडुलेटा) और बेर
4. करील (केपेरिस डिसिडयु) और बेर
5. पिलु (सालवाडोरा ओलिओडिसा) और बेर
6. कचनार और करील, कबर

7. पलाश और शमी (प्रिसोपिस स्पिसीजिरा)
8. बड़ और गूलर
9. बड़ और पीपल

वराहमिहिर ने पर्यावरण का भी अभ्यास किया था। उनका कथन था कि बगैर पर्यावरण के कोई भी जीवन सम्भव नहीं है। पर्यावरण भौतिक होता है और जैविक भी। भौतिक पर्यावरण यानी वर्षा, ताप, आर्द्रता, प्रकाश, आंधी और भूमि, जबकि सभी जीवित प्राणी जैविक पर्यावरण में आते हैं। भौतिक पर्यावरण में इन जीवित प्राणियों के आपसी रिश्ते ही पारिस्थितिकीय विज्ञान (Ecology) कहलाता है।

वराहमिहिर ने जलचक्र का अभ्यास किया, जो जल विज्ञान का एक आवश्यक पहलू है। जलचक्र जल का इतिहास बताता है। वातावरण, जलक्षेत्र, मृदा, चट्टान, पेड़ और प्राणी जलचक्र के भाग हैं। जल की तीनों अवस्थाएँ यानी बर्फ, तरल जल तथा भाप इसी जलचक्र से गुजरती है। वराहमिहिर ने वर्षा से भरे बादलों को बादलों की गर्भधारणा निरूपित किया। इसी में वायु की गर्भधारणा भी निहित हैं। इसके अलावा भूमिगत जल, भूमिगत जलभण्डार, जलचट्टानें तथा उनके अलग प्रकारों का भी गहरा अध्ययन किया था। जहाँ पर जल उपलब्ध हैं, वहाँ की मिट्टी, चट्टानें, वनस्पति किस प्रकार की होगी, वहाँ विचर रहे प्राणियों का रंग कैसा होगा, जल वाहिनियों की दिशाएँ किस तरफ जाती हैं इनका अध्ययन भी शामिल हैं। चिकनी मिट्टी, गिट्टी और रेती, कंकर, इनके रंग और उनकी मृदु या कठोर बनावट से जल का पता लगाया जा सकता है। उससे यह भी पता लगता है कि वहाँ जल कितना है और कितना रिसकर बाहर निकलता है।

वराहमिहिर का मानना था कि वर्षा के जल का रंग और स्वाद भूमि के अलग–अलग प्रकारों के अनुरूप बदल जाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने पहले तो इसे गलत बताया लेकिन बाद में उन्होनें इस अध्ययन को सही करार दिया। वराहमिहिर ने वृक्षों की मदद से पानी की गुणवत्ता और भूआकृति का भी अध्ययन किया था। वृक्षों की बनावट और भूआकृति का वर्षा पर भी प्रभाव पड़ता है। इनके अभ्यास के लिए भूगर्भ के साथ साथ भौतिक शास्त्र और गणित का ज्ञान भी जरूरी है, जिससे जल तथा खनिजों के संसाधन ढूंढे जा सकें।

भूमि और चट्टानों की ध्वनि, ताप और कठोरता, इन चरित्रों का अध्ययन कर वराहमिहिर ने जल प्राप्ति के कुछ संकेत निकाले थे। वे इस प्रकार है :–

क्र.	विवरण	संकेत	पानी की गहराई
1.	जोर से चलने पर भूमि का कांपना।	ध्वनि	8 मीटर
2.	मुलायम तथा निचले स्तर की रेतीली भूमि जो आवाज करती है।	ध्वनि	10.28 मीटर
3.	गरम भूमि के किसी एक भाग पर ठण्डा पट्टा या ठण्डी भूमि पर गरम भूमि का पट्टा	ताप	8 मीटर

नालों के बारे में उनका दावा था कि जो नाला पूरब से पश्चिम की ओर बहता है वह ज्यादा दिन चलता है, जबकि उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर बहने वाला नाला नहीं क्योंकि उसे पूरब से पश्चिम ओर

उठने वाली तरंगें बरबाद करेंगी। यदि कोई विकल्प न हो तो ऐसे नालों के किनारे पत्थरों के या लकड़ी के या हाथी या घोड़ों से दबाई गई मिट्टी के होने चाहिए ओर उन पर विशिष्ट वृक्ष लगाए जाने चाहिए। उनकी परछाई से पानी की रक्षा होगी।

अ २. जल वितरण और उपचार

वराहमिहिर ने जन जीवन के लिए जल वितरण कैसा हो इसका भी अध्ययन किया था। उनके विचारों से जनजीवन के लिए जल प्रदाय के निम्नानुसार प्रकार हैं :–

झरना, कुए, नदी तथा हौदी, जिसमें वर्षा का जल, छत पर गिरने वाली वर्षा का जल तथा छोट–छोटे पोखरों में जमा जल शामिल है।

इस तरह इकट्ठा किया हुआ पानी कभी–कभी दुर्गन्ध छोड़ता है। यदि वह ज्यादा गहरा न हुआ तो उसे उपचारित करने के लिए वराहमिहिर ने सादा तरीका बताया है। अंजनाम, नागरमोथा, खस, तुरई और आँवले को कत्थे के साथ उपचारित कर कुए में डालना चाहिए।

वनस्पति और वृक्षों को देखकर भी वराहमिहिर भूजल का पता लगा लेते थे क्योंकि वृक्षों के रंग और बनावट से भूजल की उपलब्धि का पता लगाया जा सकता है, जैसे जहाँ वृक्षों के तने सफेदी लिए ही वहाँ पानी उपलब्ध रहता है क्योंकि जब भूमि में अधिक पानी हो तो जड़ें ज्यादा पानी सोखेंगी, जिससे वातावरण में ज्यादा नमी और वाष्पोत्सर्जन कम होगा, अतः वृक्ष के तने सफेद होंगे। (देखिए चित्र क्र. 3)

चित्र क्र.3 : सफेद तने - नीचे भूजल का स्पष्ट संकेत देते हुए।
(संदर्भ- ग्राउंड वाटर इन वराहमिहिर्स वृहत संहिता)
-डॉ. इ.ए.वी. प्रसाद

जब जड़ों पर पानी का दबाव आता है तो जड़ें उसे तने की ओर ढकेलती हैं। आर्द्रता बढ़ती है और पत्तियों से पानी उड़ नहीं पाता। पेड़ का जो भाग कटा हुआ हो वहाँ से भी पानी बाहर निकलता है, जिसमें शर्करा ज्यादा होती है। पेड़ों में जो अतिरिक्त मांडी (स्टार्च) होता है वह शर्करा में परिवर्तित हो जाता है जिसमें कुछ लवण भी होते हैं।

- वराहमिहिर ने कुछ पेड़ों से शर्करा निकलने के संकेत दिए थे।

- जिन झाड़ों की पत्तियाँ ज्यादा चमकदार दिखें वहाँ भी पानी होने के संकेत मिलते है।
- कुछ पेड़ों पर बड़ी–बड़ी गठानें होती हैं ये गठानें वहाँ से निकलने वाली शाखाओं के कोषाओं के कारण बनती हैं। गठानों के कारण पेड़ों का व्यापारिक मूल्य कम हो जाता है लेकिन ऐसे पेड़ नीचे जल होने के संकेत जरूर देते है। (देखिए चित्र क्र. 4)
- जिन वृक्षों के तने खोखले होते हैं या जिनके पत्तों में छेद होते हैं वहाँ पानी का संकेत नहीं है।
- जो वृक्ष कद में छोटे होते हैं वहाँ भूजल के संकेत मिलते हैं।
- जिन वृक्षों से रबर या दूध निकलता है उन वृक्षों के नीचे भूजल होने के संकेत भी मिलते हैं।
- जिन वृक्षों की शाखाएँ और पत्तों बहुत घने होते हैं उन वृक्षों के तल में भी भूजल उपलब्ध रहता है।

चित्र क्र.4 : नीम के मुख्य तने पर बड़ी-बड़ी गठाने- नीचे भूजल की ओर संकेत करते हुए। (संदर्भ- ग्राउंड वाटर इन वराहमिहिर्स वृहत संहिता)

-डॉ. इ.ए.वी. प्रसाद

चित्र क्र.5 : लम्बी और एक ही दिशा में फैलकर नीचे झुकी हुई पेड़ की शाखा, नीचे भूजल का संकेत देते हुए। (संदर्भ- ग्राउंड वाटर इन वराहमिहिर्स वृहत संहिता)

-डॉ. इ.ए.वी. प्रसाद

- जिन वृक्षों की शाखाएँ लम्बी और नीचे झुकी होती हैं उनके तल में जल मिलता है। (देखिए चित्र क्र. 5)
- फूलों और फलों का बेतरतीब होना भी पानी का संकेत देता है।
- जिस दीमक को हम खतरनाक समझते हैं असल में वह किसान की मित्र ही है। जहाँ पर दीमक होगी वहाँ बराबर पानी मिलेगा। दीमक जमीन की गहराई से पानी ऊपर लाती है। दीमक और वनस्पतियों का आपसी रिश्ता भी होता है। ऐसी वनस्पतियाँ जिनकी जड़ें उथली होती हैं वे अकसर पानी के पास होती है। वही दीमक भी होगी क्योंकि दोनों का क्षेत्र एक ही हैं (देखिए चित्र क्र. 6)
- लवकुश घास और दीमक का गहरा सम्बन्ध रहता है।
- दीमक का ढ़ांचा एक मीटर ऊँचा और उसका व्यासफल 6 मीटर होता है। उस ढ़ांचे के नीचे पानी होता है। दीमक, पशुओं का गोबर, वृक्षों और फसलों की छाल और अवशेष खाकर भूमि को उर्वरा बनाती है।

चित्र क्र.6 : इमली के पेड़ के नीचे दीमक की बाम्बी - नीचे भूजल का स्पष्ट संकेत देते हुए कि दीमक किसान का शत्रु नहीं मित्र है। (संदर्भ- ग्राउंड वाटर इन वराहमिहिर्स वृहत संहिता) -डॉ. इ.ए.वी. प्रसाद

- दीमक की रानी उत्तर दक्षिण दिशा में ही सोती है। शायद पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति के कारण उसे अपनी गलियाँ बनाने में आसानी होती हैं।
- जल चट्टानों के आसपास मेंढक, मछली, सांप, छिपकली, नेवला, कछुआ, बिच्छु और चूहे पाए जाते हैं।

ब.१ भावमिश्र

भावमिश्र अकबर के जमाने का सोलहवीं सदी का विद्वान था। उसने 400 विद्यार्थियों को काशी में आयुर्वेद पढ़ाया था। वह अंतिम भारतीय विद्वान था जिसने आयुर्वेद सिखाया। उसके बाद तो देश में यूनानी दवाइयाँ शुरू हो गई। भावमिश्र ने चरक, सुश्रुत, वाग्भट, हरित तथा तांत्रिक के आयुर्वेद पाठ्यक्रमों से आयुर्वेद का अध्ययन किया था। सुश्रुत का पहली शताब्दी का चरक का आयुर्वेद का कार्यकाल दूसरी शताब्दी (ईसा पूर्व), वाग्भट का नवी शताब्दी का तथा भावमिश्र का 16 वीं शताब्दी का रहा है। आयुर्वेद के साथ–साथ भावमिश्र ने जल के प्रकार और उनकी गुणवत्ता पर भी अभ्यास किया था।

भावमिश्र का कथन था कि जल के चार प्रकार होते हैं।

1) धरजलम जो आकाश से आता है।
2) करकभवम जो हिमलम्ब में मिलता है।
3) तौसरम जो बिजली कड़कते समय बून्दाबान्दी के रूप में गिरता है।
4) हेमम जो बर्फ से पिघलकर आता है। इन सब में जो जल सीधा आकाश से मिलता है वह सबसे श्रेष्ठ है।

इन सब में धरजलम सर्वश्रेष्ठ माना गया है। धनजलम के भी तीन प्रकार होते हैं। जंगलम, अनुपम तथा साधारणम। छितरा–छितरा पानी तथा छितरी–छितरी वनस्पति जंगल पानी दर्शाती है। जहाँ वृक्षों और जल की बहुतायत होती है वह अनुपम जल है तथा जिसमें ये दोनों पाए जाते हैं वह साधारणम जल कहलाता है।

भावमिश्र ने भूजल, नदी का जल, पोखर का जल, बर्फीली चट्टानों से बहकर आने वाला जल, वर्षा का जल, पहाड़ों का जल, स्वयंभू चट्टानों से फूटकर निकला, हौदी में भरा जल, कुए, बावडियों का जल और खेत का जल आदि सबका तुलनात्मक अध्ययन किया था।

ब.२ जल की गुणवत्ता पर मौसम का प्रभाव

भावमिश्र के अनुसार बदलते मौसम का जल की गुणवत्ता पर भी प्रभाव पड़ता है। हेमन्त ऋतु यानी नवम्बर से जनवरी तक तालाबों में भरा पानी सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शिशिर ऋतु (यानी जनवरी से मार्च) में भी वह पानी ऊंचे दर्जे का होता है। वसन्त ऋतु में अर्थात मार्च से मई तक तथा ग्रीष्म ऋतु में अर्थात मई से जुलाई में गहरे कुओं का, साधारण कुओं का और पत्थरों के बीच बहता पानी भी अच्छा होता है। परंतु इन्हीं ऋतुओं में नदी का पानी पीने योग्य नहीं माना जाता है क्योंकि वसंत ऋतु में वृक्षों से गिरे पत्ते जहरीले हो सकते हैं।

वर्षा ऋतु में फूटकर निकला पानी या वातावरण में जमा पानी अच्छा होता है। शरद ऋतु में भी नदी का पानी अच्छा होता है। चन्द्रमा और सूरज की रोशनी भी पानी को प्रभावित कर गुणवान बनाती है।

शरद ऋतु में जब अगस्ती तारे का नभ में उदय होता है तब पृथ्वी का पानी शुद्ध माना जाता है। सुश्रुत ने कहा है कि पुष्य नक्षत्र में झील का पानी, मघा नक्षत्र में तालाब का पानी, फाल्गुन में कुए का पानी, चैत्र नक्षत्र में घाटी का पानी, विशाखा नक्षत्र में पहाड़ों से रिसता पानी, ज्येष्ठ नक्षत्र में गहरा भूमि का पानी, आषाढ़ में कुए का पानी, श्रावण में अन्तरिक्ष का पानी और मार्गशीर्ष में सभी प्रकार का पानी श्रेष्ठ माना जाता है।

सुबह–सुबह पानी का स्वाद अच्छा होता है। पानी थोड़ा–थोड़ा लेकिन ज्यादा पीना चाहिए, एक साथ नही।

पृथ्वी का 70 प्रतिशत भाग जल से व्याप्त है। जल के बिना जीवन संभव नहीं है इसलिए भावमिश्र इसे जीवनाधारम कहते हैं। हमारे शरीर का 9/10 भाग पानी है। गुर्दे में 82 प्रतिशत, स्नायू में 75 प्रतिशत, कलेजे में 60 प्रतिशत तथा हड्डियों में 22 प्रतिशत जल रहता है।

भावमिश्र ने जल को दो भागों में बाँटा है। एक दिव्यम जल, जो आकाश से बरसता है और दूसरा

भौम यानी भूमि में उपलब्ध भूजल।

दिव्यम् जल के 4 भाग हैं 1) वर्षा का जल, 2) ओलों से मिलता पानी, 3) बरफ से मिला पानी और 4) हिमपात से मिलता पानी। जल वर्षा भी तीन प्रकार का होता है गंगम (सर्वोत्तम) समुद्रम (निम्न स्तर का) तथा अनरतवम (बे मौसम वर्षा का जल)

भौम जल भी तीन प्रकार का होता है–जंगल जल, अनुपम जल तथा साधारण जल। भावापक्ष के वर्णनों स्वच्छ जल, गन्दा जल और दूषित जल ये शब्द आते हैं अर्थात पर्यावरण की समझ उस समय भी थी। इसलिए पर्यावरण प्रदूषण के कारण उस काल में सरस्वती नदी लुप्त हो गई।

स.१ पाराशर ऋषि

हमारे वेदों और पुराणों में कृषि सभ्यता ही एकमात्र सभ्यता बताई गई है। ऋग्वेद में वर्षा के लिए इन्द्र की उपासना से यही सिद्ध होता है। वरूण, मैत्रवरूण तथा पर्जन्य भी वर्षा देने वाले भगवान माने जाते थे। ऋग्वेद का कृषिसूत्र पूरा खेती के वर्णन से भरा पड़ा है।

स.२ कृषि विज्ञान की उत्पत्ति

कौटिल्य का 400 वर्ष ईसा पूर्व लिखा गया अर्थशास्त्र तथा 600 वर्ष ईसा के बाद वराहमिहिर द्वारा लिखी गई बृहद् संहिता में कृषि पर विस्तार से चर्चा की गई है । ईसा से 500–600 वर्ष पूर्व पाणिनी तथा 200 वर्ष पूर्व पांतजलि के योग सूत्र किसानों के रहन–सहन से सम्बन्ध रखते हैं । प्राकृत भाषा में लिखी गई हाला की गाथा सप्तशती (100–200 ई. पू. पूर्व) किसानों पर लिखे अन्य ग्रन्थ हैं।

इन सबके मूल में पाराशर ऋषि थे। उन्हें कृषि का सर्वोच्च पुरुष माना जाता है क्योंकि उनका लिखा 'कृषि पाराशर' ग्रन्थ पूरी तरह खेती से जुड़ा हुआ है ।

पाराशर ने कृषि पर तो लिखा ही है परंतु वाहनविधान और वाणिज्य पर भी लिखा हैं जो खेती के महत्वपूर्ण अंग हैं क्योंकि उन दिनों कृषि, उद्योग का एकमात्र व्यापार था ।

पाराशर, गर्ग और कश्यप ने कृषि का सिलसिलेवार तथा वैज्ञानिक ढंग से अभ्यास किया था । कृषि के आलावा पाराशर ऋषि खगोल तथा मौसम शास्त्र में भी पारंगत थे । कृषि में वर्षा का विशेष महत्व है। उसके आगमन की पूर्व सूचना किसानों को कैसे मिल सकती है इसका पाराशर ऋषि ने अध्ययन किया था।

उन्हौंने बोनी पूर्व हवा, बादल और नक्षत्रों का निरीक्षण कर खेती की दिशा तय करना सिखाया । नक्षत्रों का आपस में प्रभाव पड़ता है तथा सूर्य का मेष राशि में भ्रमण का पता लगाना भी जरूरी माना गया है। प्रतिवर्ष नदी में जल का स्तर क्या होता है इसका अध्ययन खेती के लिए जरूरी है । यकायक वर्षा क्यों आई और अकाल क्या और कैसे पड़ा इसको भी लिख कर रखना चाहिए। सूर्य विषुवद् रेखा को किस समय पार करता है इसका निरीक्षण खेती के लिए जरूरी है।

पाराशर ऋषि ने खेती के अलावा पशु संगोपन सिखाया। पशु धन की देखभाल, उनका स्वास्थ्य, चराई, दाना–पानी, गोबर व मूत्र का विनियोग आदि का पाराशर ऋषि ने अध्ययन किया था ।

किसानों ने बीजों का संवर्धन कैसे करना चाहिए, हल चलाना, वनी, पौध रक्षा, जल एवं सिंचाई

व्यवस्था, खरपतवार नियन्त्रण, अनाज भंडारण, कृषि के औजार बनाना, उनकी देखभाल आदि का भी उन्होंने अध्ययन किया था । उस समय भूमि, हल–बख्खर, या अन्य कृषि औजारों की लम्बाई चौड़ाई नापने के लिए अंगुली, पद (पैर), हस्त (हाथ), पुरूष, आरनी, आदि का उपयोग होता था और उसका सम्पूर्ण विवेचन तैतृय संहिता, सत्पथ ब्राम्हण, कात्यायन श्रुत सूत्र आदि ग्रन्थों में दिया हुआ है । पुरूष यानी 120 उंगली या 5 हस्त के बराबर माना जाता था । पुरूष या नर 90 इंच के बराबर होता था । 7.5 फीट या 2.286 मीटर, 1 पद बराबर 12 अंगुली की चौड़ाई के समकक्ष था ।
पाराशर ऋषि ने कृषि को तीन भागों में बाँटा है ।

1) मायिक दाना – बोनी के तुरत बाद बीजों को एक समान अंकुरित करने की कला को मायिक दाना कहते हैं।

2) कत्तान – यह विधि धान की काश्त के लिए विकसित की गई थी । इसका मतलब जल को धान के खेत में सुरक्षित करना होता है ।

3) नाला रोपन – ग्रीष्म ऋतु में वर्षा के पानी को बांधने की कला नाला रोपन कहलाती है ।

पाराशर ऋषि खेती को सबसे पवित्र और भगवान का आशीर्वचन मानते थे। उनका मानना था कि खेती हिंसक हो सकती है मगर उससे उपजा अन्न प्राणीमात्र और अतिथियों के लिए होने के कारण किसान हिंसक खेती से मुक्त हो जाता है।

स३. वर्षा और ग्रह भ्रमण

पाराशर ऋषि ने वर्षा के आगमन की संभावनाओं के लिए एक सरल नुस्खा बताया था । 31 को 3 से गुणा करें फिर उसमें 2 मिलाए जो जोड़ आएगा उसमें 7 का भाग दें जो बचेगा वह उस वर्ष का प्रमुख ग्रह होगा। तथा उस ग्रह से पाँचवाँ ग्रह मंत्री ग्रह होगा उदाहरण के लिए :–

जब मुख्य ग्रह सूर्य होता हो तब साधारण वर्षा होगी। चन्द्र होगा तो अतिवृष्टि होगी, मंगल ग्रह में कम वर्षा और बुध ग्रह हो तो उत्तम वर्षा के संकेत मिलते हैं ।

जब बृहस्पति प्रमुख नक्षत्र हो तो वर्षा संतोषजनक मानी जाती है, शुक्र अच्छी वर्षा के संकेत देता है। जबकि शनि यदि प्रमुख नक्षत्र हो तो अवर्षा और धूल भरा संकेत मिलता है ।

यदि मंगल प्रमुख ग्रह निकले तो फसल पर कीड़े और बीमारियों तथा विसंगतियों का संकेत मिलता है।

मंत्री ग्रह पर कौन सा नक्षत्र विराजमान है इसको ध्यान में रखकर ही साल भर की फसलों की योजना बनाई जानी चाहिए । ग्रहों के नाम इस प्रकार हैं।

चन्द्र, सूर्य, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, और शनि ।

बादलों के आकार देखकर भी वर्षा के संकेत मिलते हैं। उसका सूत्र (फार्मूला) इस प्रकार है :–

शाक्य वर्ष में अग्नि के प्रकार (जो 3 होते हैं) उसे मिलाए और उस वेदों की संख्या से यानी 4 से भाग दें। जैसे :–

1920 + 3 = 1923 ÷ 4 = 480 शेष 3

जो शेष बचता है वह बादलों का प्रकार बताता है। बादलों के चार प्रकार होते हैं –आवर्त, संवर्त, पुष्कर, और द्रोण। ऊपर बताए गए फार्मूले में बादल आवर्त हैं । आवर्त में पानी कहीं–कहीं बरसता है संवर्त में हर जगह वर्षा होती है, पुष्कर में कम वर्षा होती है द्रोण पूरे साल पारी का संकेत देता है । वर्षा कितनी होगी इसके भी माप होते हैं। अधक वर्षा नापने का ही पैमाना है, जो 100 योजनाओं इकठ्ठा पानी का माप है तथा 30 योजना गहरा है।

–जब सूर्य कर्क राशि में प्रवेश करता है और चन्द्र मिथुन, मेष, वृषभ या मीन राशि में प्रवेश करता है तो 100 अधक पानी गिरने के संकेत देता है ।

यदि सूर्य सिंह और धनु राशि में प्रवेश करता है तो वर्षा 50 अधक होती है । कन्या राशि में प्रवेश करने पर कर्क, कुम्भ या तुला राशि में प्रवेश करने पर 96 अधक वर्षा होती है ।

यदि उत्तर और पश्चिम दिशा से आंधी आती है तो वह वर्षा की द्योतक है मगर पूर्व और दक्षिण से आने पर अवर्षा के संकेत मिलते हैं।

पाराशर ऋषि का मानना है कि किसानों को हवा और आँधी की दिशाओं का ज्ञान होना चाहिए। इसे जानने के लिए खेत में झण्डा गाड़ना उपयुक्त होगा। जब वातावरण में धूल भरी हो और पौष माह के शुक्ल पक्ष में पश्चिम में यदि बिजली चमक रही हो तो वर्षा निश्चित आती है।

पौष मास में यदि वर्षा होती है या कोहरा छाए तो जुलाई – अगस्त माह में अति वर्षा के संकेत मिलते हैं।

चन्द्रमा का हर रात भ्रमण होता है यानी चतुर्थी–पंचमी और नवमी की रात वातावरण में क्या बदलाव आता है इसका अध्ययन करना जरूरी है। उनका कथन है कि हर दिन का और रात का नक्षत्रों का भ्रमण अलग–अलग संकेत देता है। उसका अभ्यास करना चाहिए । उसके लिए दृष्टि और समय चाहिए । उदाहरण के लिए यदि देखें तो चैत्र माह यानी अप्रैल के शुक्ल पक्ष का पहला दिन यदि रवि का हो तो साल वर्षा सामान्य होगी और यदि वह सोमवार का दिन हो तो पूरे साल अधिक वर्षा होगी । यदि सूर्य प्रवेश का दिन गुरुवार या शुक्रवार होगा तो बहुत ही दमदार फसल आएगी और यदि वह दिन शनिवार का हुआ तो पूरे साल अकाल पडेगा। अर्थात केवल एक दिन के अन्तराल से नक्षत्रों के भ्रमण से कितना फर्क पड़ता है यह पाराशर ऋषि हमें बता रहे हैं।

बैसाख (मई) में वर्षा के संकेत जानने के लिए बहती नदी में शुक्ल पक्ष के पहले दिन लोहे की छड़ पर 200 बार ओऽऽम सिध्दी के मंत्रोच्चार के साथ लोहे की छड़ पर चिन्ह लगाकर उस चिन्ह तक छड़ को पानी में गाड़ दें।

दूसरे दिन सुबह पानी का स्तर यदि उसी चिन्ह पर रहा तो इसका मतलब है कि वर्षा कम होगी। यदि श्रावण मास में (अगस्त) जब सूर्य कर्क राशि में हो और रोहिणी नक्षत्र में भ्रमण कर रहा हो तो वह वर्ष भुखमरी और अकाल का माना जाता है ।

अपने अण्डों को साथ लेकर अपने निवास से निकलती चीटिंयों का झुण्ड तथा मेंढकों का एकाएक टर्राना अचानक वर्षा का संकेत देता है ।

स ४. अकाल के संकेतों का अध्ययन करना

पाराशर ऋषि ने अकाल के समय नक्षत्रों के भ्रमण का भी अध्ययन किया था। उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराआषाढ़ा, भाद्रपद मंगल ग्रह का ध्रुव, वैष्णव, हस्त, मूल, ज्येष्ठ, कृतिका तथा मघा नक्षत्रों में भ्रमण अकाल का संकेत है। मंगल के पीछे सूर्य की स्थिति अकाल दर्शाती है।
पाराशर ऋषि ने उत्तम खेती के लिए फसलों का चुनाव आवक और जावक खर्च का प्रबन्धन, पशुधन का प्रबन्धन, उनका भोजन, उनका निवास, उनके त्योहार आदि का विस्तृत अध्ययन किया था। उनके अनुसार कार्तिक मास (नवम्बर) की पहली तिथि को पशुधन की पूजा होनी चाहिए। उन्हें तेल और हल्दी से लेप लगाकर नहलाना चाहिए। गाय की पीठ पर गरम दाग लगाकर उसका नाम लिखा जाना चाहिए। उनके मूत्र और गोबर से खाद बनाने की विधि का भी उन्होंनें अध्ययन किया था।

उनका आग्रह था कि शुभ नक्षत्रों में ही हल–बक्खर चलाकर बोनी करनी चाहिए । वनी के लिए काले और लाल रंग के या एक लाल और एक काले रंग के बैल की जोड़ी उपयुक्त होती है । वह कहते हैं कि भूमि मघा (फरवरी) और फाल्गुल (मार्च) में सोने जैसी होती है । चैत्र (अप्रैल) में ताम्बा और मई मास में अनाज के अलावा कुछ भी नहीं है । अर्थात हेमन्त (दिसम्बर, जनवरी) में हल चलाना सोने जैसा है, बसन्त (अप्रैल, मई) में चांदी, ताम्बा, ग्रीष्म (जून, जुलाई) में फसल है अगस्त, सितम्बर में वर्षा गरीबी है।

स.५ बीजों का संग्रहण

सभी प्रकार के बीज माघ (फरवरी) अर्थात फाल्गुन (मार्च) माह में एकत्रित कर धूप में सुखाने चाहिए। अलग–अलग किस्मों के बीज एक साथ नहीं मिलाने चाहिए ।

पाराशर ऋषि के कृषिकार्य में जल सम्वर्ध्दन, निकास नालियों का निर्माण, खरपतवार नियंत्रण, रोग ओर कीट नियंत्रण आदि का विशेष महत्व होता है।

स.६ फसल कटाई और भंडारण

मार्गशीर्ष में (नवम्बर, दिसम्बर) पहली कटाई करनी चाहिए । आर्द्र, कृतिका, चित्रा, पुष्य, हस्त, स्वाति, उत्तराषाढ़ा, उत्तरा भाद्रपद, मूल नक्षत्र तथा श्रावण मास फसल के लिए उत्तम माने जाते हैं ।

पाराशर ऋषि ने फसल कटाई के पहले फसल पूजा तथा बाद में धान्य पूजा को विशेष महत्व दिया है । हमारे यहाँ वेदों में सात नदियों पर बांध के संकेत मिलते हैं तथा पर्यावरण प्रदूषण के ही कारण सरस्वती नदी लुप्त हुई इसका भी उल्लेख मिलता है।

गाय, बैलों के अलावा गधे, घोड़े, ऊंट और कुत्ते भी खेतों में रहते थे । जो गाऐं उस काल में खेत में चरती थी और कुत्ते उनकी रक्षा करते थे, गाय गुम होने पर वे उसे ढूंढ़ लाते थे । खेतों में मशरूम, फफूंद, शैवालों के उपयोग का भी उल्लेख मिलता है।

इसके अलावा चींटी, मकड़ी, मछली, मेंढ़क, चूहे, सांप, नेवले, खरगोश तथा पक्षियों में चिड़ियॉं, कौवें, तोते, मोर और बतख आदि का भी खेती से गहरे सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है।

वेदों में गेहूँ की वनी किस्मों का उल्लेख है। तीन मौसम तक धान की खेती, बगैर सिंचाई के उज्जैन जिले में होती थी, हालांकि उसका दाना मोटा ही रहता था।

द १. कौटिल्य का कृषि शास्त्र

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में खेती पर विस्तृत चर्चा की गई है। चांवल, कोदो, तिल, मूंग, कुसुम फसलों का उनके कृषि शास्त्र में उल्लेख मिलता है। उन दिनों भी मजदूरों को काम के बदले अनाज दिया जाता था। वनी के पहले बीजों को गरम करना, गन्ने के बीजों को शहद, घी और गोबर से उपचारित करने के संकेत मिलते हैं।

कौटिल्य ने जहाँ वनी के लिए उपयुक्त निरीक्षक की सिफारिश की है वहीं कपास से धागा, वस्त्र और राखी बनाने के लिए ऐसी स्त्रियाँ जो मन्दिरों में या सार्वजनिक स्थानों में नहीं जा सकती, उपयुक्त बताई है, जैसे विधवा, विकलांग, त्याज्यपत्नियां, वेश्याएं या वृध्द् स्त्रियां आदि। उनका मानना था कि देवदासियों ने ऊन काढना, धागा और कपड़ा बनाने का काम करना चाहिए।

कौटिल्य के कृषि शास्त्र में ग्राम पंचायत पर जोर दिया गया था। उन्हें गाँव की जमीन और जल व्यवस्था का काम सौंपा गया था। साथ ही शिक्षा, कुटीर उद्योग, स्वास्थ्य तथा कृषि उपज के विपणन का दायित्व भी सौंपा गया, हालांकि रोजगार और विक्रय के लिए बाहरी पंचायतों पर निर्भरता का भी उल्लेख किया गया है।

कौटिल्य ने ब्राह्मण वर्ग को जंगल–वृक्ष लगाने का काम सौंपा था। आदिवासियों को जंगल का सर्वेसर्वा बनाया था। जंगलों की रक्षा करना तथा वहाँ की लकड़ी बेचने का दायित्व उन्हे सौंपा था । साथ ही जो जंगलों का नाश करे उन्हें दण्डित करने का कार्य भी सौंपा था। कौटिल्य के समय कृषि कार्य के लिए जंगलों में वृक्ष काटने पर कोई पाबंदी नहीं थी। शीशम, धनवन, तिनिसा, अर्जुन, महुआ, तिलक, राजदाना, सरला, अश्वकर्ण, तला, अरिमेश, सोमवल्क, साल, धावड़ा ये वृक्ष सूखी लकड़ी के लिए लगाए जाते थे। अम्बर, चिमिया, ढावा, वेस, वमसा, सरीना, कवक, भलुक ये बांस के प्रकार थे।

बेत, सोनवल्ली, वसी स्यामलत, नागलता प्रकार की लताओं की खेती होती थी। मालती, दुर्वा, अक्र, सन् गवधुंका और अटासी ये रेशे वाले वृक्ष थे। मुंज, बलबजा से रस्सी बनती थी।

पलाश, कुसुम्ब कुनकुम, फूलों के वृक्ष माने जाते थे। कलकुटा, वत्सन्भ्र, हलाहल, मेषाग्र, मुस्ट, कुष्ट, महानवी, वेलीटका, हेमवता, कंलिगका, दरादवा विषैले वृक्ष माने जाते थे।

जंगल में जाने के लिए चरनोई वाले इलाके से जाना पड़ता था और उसके लिए शुल्क देना पड़ता था। घाटी में किसी प्रकार की लूट, ठगी, डकैती न हो इसकी खबरदारी ली जाती थी। जो ऊसर जमीन रहती थी उस पर भवन निर्माण होता था, तालाब, पोखर, हौदियाँ बनाई जाती थी। फल और फूलों के वृक्ष लगाए जाते थे, जंगल और जंगली जानवरों की बकायदा रक्षा की जाती थी। जंगलों में तोड़ फोड़ करने पर अथवा जंगली जानवरों को मारने पर अपराधी को दंड़ित किया जाता था। मछलियों और पक्षियों का शिकार निषिद्ध था।

सातवें दशक में उत्तराखण्ड में खेती के संकेत मिलते हैं। शायद वैदिक आर्य मध्य एशिया से खेती के सूत्र लाए होंगे। छोटे अनाज और चवला शायद वहीं से आए। ईसा से 2500 वर्ष पूर्व महुआ, मसूर,

मटर, पुरानी दालें, चना काबली चना, उड़द, मूंग और तिल का उल्लेख मिलता है जबकि मिर्च, आलू, मक्का, टमाटर, तम्बाकू और मूंगफली बाहर से हमारे देश में आए। चेरी, जर्दालू, सन्तरा और चाय चीन से आए और नीबू मध्य एशिया से।

हमारे यहाँ कपास की खेती 5000 वर्षों से हो रही है, जिसका जिक्र कौटिल्य ने किया था।

द२. कौटिल्य की ग्राम विकास और कर पध्दति

बीजोपचार के लिए लकड़ी की राख सर्वोत्तम मानी जाती थी। शहरों में यदि जनसंख्या अधिक होती थी तो अतिरिक्त व्यक्तियों को वापिस गांव भेज दिया जाता था। जिस स्थान पर 100 से 500 दलित बसते थे, वह खेतीहर गांव कहलाता था। ग्रामीण विकास को सुचारू रूप से लागू करने के लिए गाँवों के केन्द्र बनाए जाते थे। 10 गाँवों का एक केन्द्र माना जाता था। उसी तरह 200, 400 और 800 गाँवों का एक केन्द्र माना जाता था।

जो ब्राह्मण अध्ययन, पूजा और वेद पठन करते थे, उन्हें कर माफ रहता था और अच्छी उर्वरा जमीन उन्हें इनाम में दी जाती थीं। इसके अलावा अधीक्षक, ग्रामीण, लेखाकार, पशु चिकित्सक, घुड़दौड़ सिखानेवाले और सन्देशवाहकों को भी खेती करने के लिए जमीन दी जाती थी, परन्तु शर्त यह थी कि वे अपनी जमीन बेच नहीं सकते थे और न गिरवी रख सकते थे। उस जमीन पर उनसे लगान वसूला जाता था। जो जमीन के मालिक जमीन नहीं जोतते थे उनसे छीन ली जाती थी। जो किसान आसानी से लगान चुकाते थे उन्हें धन, गोधन और अनाज इनाम में दिया जाता था।

खदानें, जंगल की लकड़ी, पशु प्रजनन और व्यापार, रास्ते बनाना, जल–संग्रहण के लिए पोखर बनाना, ये काम राजा करते थे। जो लोग पोखर बनाते थे उन्हें जमीन और लकड़ी राजा की तरफ से मुफ्त मिलती थी। मुसाफिरखाना बनाने के लिए भी राजा जमीन देता था।

क १. कश्यप

कौटिल्य, वराहमिहिर और पाराशर की तरह कश्यप ऋषि का भी खेती में उल्लेखनीय योगदान रहा है। खाद्यान्न सुरक्षा, पोषण आहार, सुरक्षा, सामाजिक कल्याण जीव–जन्तु तथा वन्य प्राणी सुरक्षा आदि पर कश्यप ऋषि ने महत्वपूर्ण काम किया है। उन्होंने भूमि, जल, और भूमि विकास पर विशेष ध्यान दिया। शासन, प्रशासन तथा सामाजिक संगठनों से जनसाधारण की क्या अपेक्षाएँ हैं, इसका विवेचन उनके लेखों में मिलता है। उनका कथन था कि फसल सुरक्षा तथा कीट व रोग आक्रमण की आशंका को देखते हुए राजा को प्रारम्भ में ही कृषि तथा गैर कृषि भूमि विभाजित कर लेनी चाहिए। इसी तरह नदी, नालियों की निकासी पर भी राजा को ध्यान देना चाहिए। पीने के पानी की व्यवस्था भी राजा का ही कार्य हुआ करता था।

कश्यप ऋषि ने उपयोग की दृष्टि से भूमि को चार प्रकारों में विभाजित किया था : 1) धान की खेती, 2) अन्य फसलों के लिए, 3) वनोपज फसलें, 4) जल संवर्धन के लिए पोखर, तालाब आदि।

जिनके यहाँ सिंचाई की व्यवस्था रहती थी उनसे पहले धान लगवाई जाती थी। उसके बाद दालें, सब्जियाँ और फूलों की खेती होती थी। सभी वर्गों और धर्मों के लोग सब्जियों और फूलों की खेती करते

थे। उनके बाजार और विपणन की व्यवस्था करना भी राजा के जिम्मे था। पिछड़े वर्ग के किसानों को भी संरक्षण मिलता था।

क २. गोरक्षा

गाय का बछड़ा, साण्ड या दूध देने वाली गायों का वध नहीं किया जाता था। यदि किसी ने वध किया तो उसे भयानक दण्ड मिलता था। यदि किसी ने पशु चुरायें तो उसे मृत्यु दण्ड तक दिया जाता था। राज भवन से चुराए या बदले गए पशुओं के मालिकों को अर्थ दण्ड दिया जाता था। इतना ही नहीं जानवरों को लकड़ी से मारने वाले भी दण्डित होते थे। कसाई–खाने में वृद्ध या अपंग जानवर ही काटे जाते थे और गो मांस बिकता था मगर कसाई–खाने के बाहर नहीं। पशुधन की जो बिक्री होती थी उसका चौथाई भाग शासन को दिया जाता था। दूध, मक्खन, दही की बिक्री का भी दसवां भाग शासन को जाता था। अलग–अलग पशुओं के लिए अलग–अलग कर निर्धारित थे। राज्य में प्रवेश करने पर कर देना पड़ता था। आपात काल में पशु पालकों से विशेष कर लिया जाता था। मुर्गी पालने वालों को भी शासन को कर देना पड़ता था। आपातकाल में चमड़ा और हाथी दाँत की बिक्री का आधा शासन के खजाने में जमा होता था।

आर्यो के समय गोधन प्रमुख धन माना जाता था। गायों का चरने जाना और वापस आना इस पर से नागरिकों के रिश्ते तय किए जाते थें । जहाँ गायें बंधती थी उस गोठ (गोष्ठ) से उनके मालिकों के गोत्र तय होते थे। जहाँ गायें चरने जाती थी उस जगह को 'गोस्थिस' कहते थे। भगवान बुद्ध ने ब्रम्हनाधामिक सुत सूत्र निपट में गायों के कटने (गोहत्या) पर विरोध दर्शाया है।

यह माना जाता था कि भाद्रपद में गाय का गोठा (गोष्ठ) नही बांधना चाहिए और न ही गाय के गोठे में बकरी बांधी जानी चाहिए। उस गोठे में चांवल या मछली धोना, झाडू या झूठा अन्न रखना निषिद्ध माना जाता था।

भूखे, प्यासे जानवर हल में नहीं जोतने चाहिए। एक हल में यदि 8 बैल जुते हो तो ही पूरे दिन हल चलाया जा सकता है। 6 हों तो पौना दिन, चार हो तो आधा दिन, और 2 ही जुते बैल हो तो 1/4 दिन ही हल चलाना चाहिए। मंगल, शनि और रवि को किसी को गोबर खाद नहीं देना चाहिए। उल्टे गोमूत्र से गन्दगी साफ करनी चाहिए। दूध पीते गाय के बछड़ों से गाय को अलग करना निषिद्ध था।

कार्तिक मास के पहले ही दिन बैल को रंग–बिरंगा कर उसकी पूजा करनी चाहिए। बैलों के जख्म पर अदरक का गूदा, मधुमक्खी का मोम और सेंधा नमक लगाना चाहिए। गोधन का भोजन, प्रजनन, साण्डों का चयन और कटने वाली गाय और बैलों का अलग से चुनाव करना चाहिए।

2500 वर्ष पूर्व की खेती के दस्तावेज आज भी उपलब्ध हैं। सुश्रुत ने बीजों की मूल धारणा रखी, पाराशर ने तरीके बताए तथा कौटिल्य और मनु ने भी यही काम किया। बीजों को रातभर गिरती ओंस में भिगोंकर 7 दिनों तक धूप में सुखाते थे। मूंग, उड़द और चने के बीज 3–4 दिन इसी तरह रखे जाते थे।

ख १. सुरपाल का वृक्षायुर्वेद

छठवीं सदी में वराहमिहिर ने बृहद–संहिता में समुद्रशास्त्र, भौतिकशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र

तथा तीरन्दाजी पर जो लिखा उसी में एक था वृक्षायुर्वेद जिसे सुरपाल ने रचा, हालाकि उसके पहले भी वृक्ष विज्ञान पर काफी कुछ लिखा गया था।

सारंगधर ऋषि ने 13वीं सदी में सारंगधर पद्धति लिखी, उसी में एक पाठ था, उपवन विनोद।

प्राचीन काल के ऋषि–मुनि किसी ग्रन्थ का प्रारम्भ गणेश वन्दना से ही करते थे, क्योंकि ग्रंथ लेखन किसी पूजा से कम नहीं होता है और गणेश जी को सभी मंगल कार्यो में प्रारम्भिक देव ही माना गया है।

गणेश वन्दना के साथ ऋषि–मुनियों ने वृक्षों की महिमा का बखान करते हुए यह सुझाया है कि 10 पुत्रों को जन्म देने से 15 वृक्ष लगाना ज्यादा श्रेयस्कर है। 10 कुओं से 1 पोखर, 10 पोखरों से 1 तालाब, 10 तालाबों से एक पुत्र और 10 पुत्रों से एक वृक्ष बराबर होता है।

वृक्ष हमें जो देते हैं उससे, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे जीवन के ध्येयों की पूर्ति होती है। जिस घर में तुलसी लगी होती हैं वह घर स्वर्ग जैसा होता है। जहाँ बेलपत्र लगा हो वहां धन होता हैं। पूर्व दिशा में बड़ का वृक्ष, दक्षिण दिशा में औदुम्बर और पश्चिम दिशा में पीपल का वृक्ष होना किसी भी स्थान के लिए पवित्र और मंगलदायी माना गया हैं। घर के पास कोई भी वृक्ष हो, उसकी परछाई घर पर अच्छी नहीं मानी जाती हैं। बगीचा घर के दक्षिण में नहीं होना चाहिए। सुरपाल के अनुसार ऋषि–मुनियों ने अधिकांश वृक्षों का इतना गहरा अध्ययन किया है कि वे उनके केवल आर्थिक पहलू ही नहीं बल्कि उनकी दिव्य शक्ति का भी ख्याल रखते थे। वृक्षों के लिए भूमि किस प्रकार की होनी चाहिए, वृक्षों के बीज अंकुरण से लेकर उसकी पूरी बढ़वार में वृक्ष की क्या–क्या अवस्थाएं रहती हैं फूल कब आते हैं ? फल धारणा कब होती हैं ?, उनमें कीट व्याधियां क्या–क्या होती हैं ? रोग कौन–कौन से और कब होते है और उनका स्थानीय संसाधनों से किस प्रकार निराकरण किया जा सकता हैं, उनका भी उन्होंनें विस्तृत अध्ययन किया। केवल उदाहरणार्थ वृक्ष के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं की झलक रोचक होगी। भूमि, मिट्टी शुष्क, दलदल और साधारण किस्म की होती है। उसके रंग तथा गन्ध के आधार पर उसे छः भागों में बांटा जा सकता है। काला, सफेद, पीला, गहरा काला, लाल और फीका इस तरह मिट्टी के विभिन्न रंग होते हैं। मीठा, खारा, नमकीन, तीखा, और कडुआ और फीका उसके स्वाद होते हैं। विषैले तत्व पत्थर, पहाड़ी इलाका और गिट्टी भरी मिट्टी, खेती और बागवानी के लिए उपयुक्त नहीं मानी जाती हैं। मिट्टी थोड़ी सी नीली आसमानी रंग की, तोते के परों जैसी नरम, शंख, मोगरा, कमल या चांद जैसी सफेद और तपते सोने या चम्पा जैसी पीला रंग लिए होनी चाहिए। वह समतल और पानीदार होनी चाहिए। यदि राजा, भाग्य और धन साथ हो तो बागवानी कहीं भी की जा सकती है।

ख२. बीजोपचार

सुरपाल ने बागवानी और खेती में बीजोपचार को सबसे ज्यादा महत्व दिया। उनका कहना था कि बीज यदि स्वस्थ हुआ तो फसल अच्छी उतरेगी। बीज के अन्दर कई प्रकार के रोग और कीटाणु होते हैं जो बाहर से दिखाई नहीं देते। इसलिए बीजोपचार कर बीज को बोने से पहले सुदृढ़ बनाया जाना चाहिए। बीजोपचार के उनके बताए हुए कुछ नुस्खे इस प्रकार हैं।

1) फल से बीज निकाल लें। 5 दिनों तक उन पर दूध का छिड़काव कर सुखा लें। बाद में उन्हें

सरसों और बायबड़िंग का धुआं देकर फिर बोवनी करें।

2) बीजों पर दूध का छिड़काव करें। उन्हें सरसों, तिल और बरहत्ता की राख में गीला कर गोबर में अच्छी तरह रगड़ लें, बाद में उन्हें कद्‌दू का धुंआ देकर बोने के काम में लिया जाना चाहिए।
3) बीजों पर दूध का छिड़काव करें, उन्हें गोबर में धो ले बाद में उन्हें शहद और बायबडिंग में डुबोकर बोनी करें।
4) बीजों को दूध में गीला कर। बाद में उन्हें छांव में, तिल और कमल डण्ठल का पावडर लगाकर सरसों के तेल में डुबोकर वनी करें।
5) विशाखा, मूल, चित्रा, मृग, उत्तराषाढ़ा, उत्तरा भाद्रपद, अनुराधा, ज्येष्ठ और कृतिका अच्छे और स्थिर लग्न के नक्षत्र है। उनमें वनी करने से फसल अच्छी आती है।

ख ३. पौधरोपण के तरीके

1) ऐसी समतल भूमि जहाँ शीशम या काला चना बोया न हो और जहां फूलों का आच्छादन हो, रोपें लगाने के लिए उपयुक्त स्थान है।
2) यदि दो वृक्षों के बीच 14–16 या 20 हाथ की दूरी होगी तो पहला वृक्ष निम्नस्तर का दूसरा थोड़ा ठीक और तीसरा उत्तम निकलेगा।
3) आम, अनार, लौकी और कद्‌दू के बीज बोना वैसे तो ठीक ही है मगर यदि इनकी कलमें लगाई जाएं तो ज्यादा श्रेयस्कर होगा।
4) कनेर और अनार की शाखाएं झुकी हुई होनी चाहिए तथा उनकी जड़ों में पर्याप्त गोबर दिया हुआ होना चाहिए। दो माह तक उन्हें नियमित पानी देना चाहिए। जब पत्तियां बढ़ने लगें तब उन्हें बीच में से काट देना चाहिए।
5) छोटे वृक्ष जब एक हाथ लम्बे हो जाएं तब उन्हें स्थानान्तरित कर देना चाहिए। दूसरी जगह लगाने से पहले उनकी जड़ों को शहद, कमल के टेबे, घी तथा बायबडिंग में डुबोकर लगाना चाहिए। बड़े वृक्षों को, शाम के समय उनकी जड़ों को ढ़कते हुए लगाना चाहिए।

फल तथा फूल देने वाले वृक्ष बीच में तथा अन्य उनके आसपास लगाने चाहिए। उन्हे जोड़ी में लगाना चाहिए तथा उनके चारों ओर नाली खुदी हुई होनी चाहिए। वृक्षों को तूफान, कोहरा, धुआं, आग तथा मकडियों से बचाना चाहिए।

ख ४. पौध पोषण

1) वर्षा ऋतु में या बसन्त में या जब भूमि सूख जाए तब औषधि वनस्पति का रस, गौमूत्र तथा दूध जड़ों को देना चाहिए।
2) वृक्षों की जड़ों के आस – पास पनप रही घास–फूस तुरन्त निकाल देनी चाहिए।
3) जिन वृक्षों को घी, बायबडिंग, दूध और शहद का धुआं दिया जाता है, वे जल्दी ही फल और फूल देने लग जाते हैं।

4) जब तक पत्तों का रंग मूंगे जैसा गहरा हरा नहीं होता तब तक नई पौध को सूर्य प्रकाश से बचाना चाहिए।
5) अच्छी जड़ों वाले वृक्षों को ठण्ड में एक दिन के अन्तराल पर पानी देना चाहिए। बसन्त ऋतु में रोज शाम को तथा ग्रीष्म ऋतु में दिन में तीन बार सिंचाई करनी चाहिए।
6) सफेद रांई, जौ, भूसा तथा खली के पानी से खजूर, कटहल तथा नारंगी के वृक्षों का पोषण करने से फल धारणा अच्छी होती है।
7) यदि अनार के तने को घी, शकर तथा सफारी मछली के मिश्रण के साथ व त्रिफला और घी का धुआँ दिया जाए तो फलधारणा अच्छी होगी।
8) यदि मछली का पानी, दूध और केचुएं अनार की जड़ों में दिए जाएं तो अनार अच्छे लगते हैं।
9) त्रिफला चूर्ण के उबले पानी से यदि कटहल को सींचा जाए और तुरन्त भूसे से ढ़ंक दिया जाए तो उस वृक्ष पर फल अच्छे लगेंगे।
10) बेल, मकई, कटहल, बैर, आँवला तथा जामुन के वृक्षों को यदि घी + शहद + चावल का पानी तिल मटर का बना व्यंजन + लौंघ + जौ का लेप लगाकर यदि उसे तिल, शहद ओर जौ के धुएं से 12 दिनो तक उपचारित किया जाए तो रसवाले फल लगते हैं, उसी प्रकार इन वृक्षों को यदि 12 दिनों तक शराब दी जाए तो भी अच्छे फल लगते हैं।
11) बेल ओर सेब को यदि गुड़, घी, दूध और शहद से सींचा जाए तो अच्छे व अधिक फल लगते हैं।
12) अंजीर के नरम पत्तों को खस और नागरमोथा के पत्तों के उबले पानी से यदि सींचते हैं और उसकी जड़ों को यदि शराब दी जाए तो फल और फूल अधिक लगते हैं।
13) इलायची, मिश्री युक्त पानी देने से केतकी के फूल अधिक महकते हैं।
14) मछली की खाद देने से कपास अच्छी आती है।

ख ५. वृक्षों के रोग एवं उपचार

सुरपाल ने वृक्ष रोगों के दो प्रकार बताए हैं। पहला वृक्षों के अन्दर के तथा दूसरे बाह्य रोग। कीट प्रकोप एवं मौसम के बदलाव से बाह्य रोग होते हैं। वात, कफ और पित्त प्रकोप से पौधे या वृक्ष के अंदर रोग फैलते हैं। इनमें वात सूखी जमीन के कारण होता हैं, जिससे पौधे पतले और तनों पर गठानें दिखती हैं। फल सख्त होते हैं, लेकिन उनमें मिठास नहीं होती हैं।

कफ ठंड के मौसम में होता हैं। यदि वृक्षों को ज्यादा पानी दिया गया हो या ज्यादा तेलवाले, ठंडे, मीठे और खट्टे पदार्थ वृक्षों को दिए जाएं तो कफ बढ़ता हैं।

पित्त प्रकोप गर्मी के बाद प्रारंभ होता हैं। जब बादल नहीं आते और वृक्षों को अधिक पानी दिया गया हो तथा जहाँ सिंचाई के साथ कड़वा, खट्टा, नमकीन और कड़क तत्व दिया गया हो तो पित्त प्रकोप होता हैं।

ये रोग हैं – पीले पत्ते, फलों का गिरना, पत्ते सूखना और सड़ना। बहुत ज्यादा पानी देने से वृक्षों में से बदबू आती हैं। फूलों में सुगंध नहीं रहती और पत्ते छोटे हो जाते हैं।

यदि वृक्ष अग्नि में झुलस गया हो या बिजली गिरने से जल गया हो या अतिशुष्क भूमि हो और

जलविहीन हो तब पित्त प्रकोप होता है।

इस प्रकार बताए गए लक्षणों से वृक्षों के रोगों का पता चलता है।

ख ६. रोगों का इलाज

कफ दोष से पीड़ित वृक्षों को सफेद राई का लेप जड़ों में लगाना चाहिए, साथ में तिल और गुड़ का मिश्रण देना चाहिए। ऐसे वृक्षों की जड़ों के आसपास से मिट्टी हटा देनी चाहिए तथा वहाँ नई मिट्टी डालनी चाहिए।

पित्त दोषवाले वृक्षों को ठंडे और मीठे पदार्थो से उपचारित करना चाहिए। त्रिफला, घी तथा शहद के उबले पानी से वृक्षों को उपचारित करने से पित्त दोष दूर होते हैं। जड़ों को सात दिन ठण्डा पानी देने से जड़ों पर आक्रमण कर रहे कीड़ें गिर जाते हैं।

जिन लताओं में कीड़े लगे हैं उन्हें नीले पानी से छिड़काव करना चाहिए। पत्तों पर लगे कीड़े राख एवं ईंट की चुरी से गिर जाते हैं। जिन वृक्षों में फल नहीं लगते उन्हें तिल, जौ, कुलथा, हरे और काले चने के ठण्डे मिश्रण से उपचारित किया जाए।

ख ७. बगीचों में करिश्मे

सुरपाल ने विभिन्न वनस्पति ओर विभिन्न पदार्थों से वृक्षों में कुछ विचित्र प्रकार के बदलाव के संकेत दिए हैं। जैसे किसी भी वृक्ष में बेमौसम फूल आना या हर माह फूलों का खिलना, फूलों में सुगंध लाना, उसका स्वाद बदलना, रंगरूप बदलना, जिन लताओं पर फूल नहीं लगते उनपर फूल लगना, वृक्षों को लताओं में बदलना। फलों को जल्द पकाना या उनके पकने का समय बढ़ाना, फसल की समयावधि बढ़ना, फलों को नष्ट करना अथवा उन्हें फिर से जीवित करना, फलों व फूलों के आकार छोटे–बड़े करना आदि।

उनके बताए गए कुछ नुस्खे इस प्रकार हैं :–

1) यदि अशोक की कलियों से सने कीचड़ को आम की जड़ों में डाला जाए तो उसकी खुशबू अच्छी आती है।
2) कटहल का फूल, कमल का शहद, शकर और मुलेठी को पीसकर उसकी एक गेंद बनाकर तथा जड़ों के पास रखने से उस वृक्ष में सतत् फल आते रहते हैं।
3) बायबडिंग, मुलेठी, जौ, दूध और गुड़ को आपस में मिलाकर उसका लेप यदि वृक्षों की जड़ों को लगाया जाए तो फल अति मीठे निकलते हैं।
4) जिस वृक्ष में तीखे स्वाद के फल लगते हों उसकी जड़ों को बायबडिंग, मुलेठी, दूध, दही, गुड़ का गाढ़ा लेप लगा दिया जाए तो फल अति मीठा होगा।
5) इमली का पेड़ लता में बदल सकता हैं, यदि उसे त्रिफला, तिल, जौं और काले चने का चूर्ण तथा हल्दी का धुआँ दिया जाए।
6) कुष्ठ, मंजिठ, पलाश, जौं, तिल + हल्दी का पानी और लेप लगाने पर वृक्षों पर लाल रंग के फूल लगते हैं।

7) देवकपास की छाल, हल्दीनील, त्रिफला, कुष्ठ और शराब का लेप लगाने पर और उसका पानी वृक्ष को देने पर हरे फल लगते हैं।
8) नागरमोथा, चांदनी, बबूल, चौपत्तिया के मिश्रण का पानी जिस खुशबू के फूल चाहिए उस खुशबू की मिट्टी अगर किसी भी खुशबू के फूल वाले झाड़ को दे दी तो उस झाड से उसी खुशबू के फूल लगेंगे।
9) यदि मनुष्य की ऊँचाई का गड्ढ़ा खोदा जाए और उसमें पौधा लगाकर उसे अन्दर से ईटों से ढंक दिया जाए तो वह छोटा ही रहेगा।
10) कमल की अलग–अलग किस्म की गांठों को यदि धागे से बांध दिया जाए और उस पर पिघले मक्खन और शहद का लेप दिया जाए और रोपा जाए तो एक ही लता से अलग–अलग किस्म के कमल खिलेंगें।
11) कनेर और अनार के तनों को भी इसी तरह बांधकर पिघले मक्खन और शहद का लेप लगा दिया जाए तो उसमें भी एक ही शाखा से अलग – अलग किस्म के फल लगेंगे।

ख ८. उद्यान का आनन्द

उद्यान फलों और फूलों से तो भरा पूरा रहता ही है परंतु उसकी बनावट इसी प्रकार होनी चाहिए कि वह आनन्ददायी हो । सुरपाल ने इस के कुछ संकेत दिए हैं। जैसे वृक्षों को सीधे सूरज की रोशनी से बचाना चाहिए। माधवी लता की घनी पत्तियाँ बगीचे को छायादार बनाती है उन पर भौरों का गुंजन और माधवी के फूलों की सुगंध वातावरण को रमणीय बनाते हैं।

बतखों से भरे बगीचों में जगह–जगह पर पोखर बनाने चाहिए जिनके चारों ओर वृक्ष हो और उन वृक्षों की परछाई पोखर स्वयं फूल रूपी आंखों से देखें।

बगीचे में विशालकाय पोखर हो जिसमें जलक्रीड़ा करने जलज प्राणी मुक्त विचरण कर सकें, जिनमें नाव का आनन्द मिल सके। चारों ओर फूलों से लदे हुए वृक्ष हो। इतने घने कि उसके बीच खिलते कमल के गहराते पत्ते तथा चारों ओर नीले कमल हों जो काली–काली और बड़ी आंखों वाली किसी रमणीय स्त्री समान दिखें। इस साफ सुथरे जल में कहीं–कहीं पूरे बगीचे की परछाईयाँ ऐसी दिखें मानों पोखर के बीच में ही बगीचा खिल गया हो। कहीं–कहीं ऐसे पोखर निर्माण किए जो मानों चन्द्रमा की किरणें वहाँ उतर आयी हों और जहां पोखर के जल की सिर्फ भ्रान्ति हो।

बगीचे में बीच–बीच में सफेद वृक्षों की ऐसी घनी कतारें हों कि प्रवेश करते ही शीतल और सुखद हवा आपके शरीर को लपेट ले। उसमें हिमराज हिमालय जैसा घर बना हुआ हो जो सुगंधित फूलों वाले वृक्षों से मानो पूरा ढ़क गया हो। बगीचे में पत्थर की दीवारों से पटा मीठे जल वाला कुआं भी हो, जिसका पानी बगीचे की सिंचाई कर सके।

नियमित अन्तराल पर अंजन, नागरमोथा, खस, अनन्त मूल, गिलकी, बेर और काथ (Kataks) को कुएं में डालना चाहिए।

कुएँ का पानी गन्दा, कडुंआ और बेस्वाद हो जाए या खारा, बदबूदार लगे तो ऊपर बताए गए वनस्पतियों के उपचार से वह शुद्ध हो जाएगा।

ख ९. कुआं खोदने के लिए जल उपलब्धि के मापदंड

भूमि की निचली सतह पर चारों ओर ऊपर आने का प्रयास करता हुआ जल भण्डार रहता है, जिनके संकेतों को समझना जरूरी हैं ताकि उस जगह हम कुआं खोद सकें।

शुष्क भूमि में यदि कही बेंत के पौधे दिखें तो वहाँ से पश्चिम की ओर तीन हाथ दूर जल प्रवाह होगा जो करीब डेढ़ पुरुष यानी दस ग्यारह फीट गहराई पर प्राप्त हो सकेगा। उस स्थान पर डेढ़ पुरुष (लगभग 11 फीट) गहराई पर सफेद रंग का मेंढक और पीली मिट्टी मिलेगी। उसके नीचे खोदने पर पत्थर होगा और उसके नीचे पानी ही पानी।

जामुन वृक्ष के पूर्व में यदि चींटियों का घर दिखे तो उस वृक्ष के दक्षिण में पानी के संकेत मिलते हैं। यदि किसी भूमि में बेर के वृक्ष के पास पलाश का वृक्ष हो तो उसके पश्चिम में 3 पुरुष खुदाई पर पानी मिलता हैं। वहाँ 1 पुरुष खुदाई करने पर केंचुआ मिलता है।

यदि कुछ वृक्षों के समूह के बीच मेंढ़क दिखे तो उसके नीचे जल होना चाहिए।

औदुम्बर और कास्थ वृक्ष के पास यदि चींटियों का घर हो तो उसकी पश्चिम दिशा में करीब 6 फीट की गहराई पर बहते जल का स्त्रोत मिलेगा।

वृक्षों के समूह के बीच यदि मेंढक दिखाई दे तो उस स्थान से सादे चार पुरुष नीचे यानी लगभग 30 फीट गहराई में पानी मिलेगा।

ख १०. फसल उत्पादन और पशुधन की उपस्थिति बताते वृक्ष

जहाँ बरगद का पेड़ हो वहाँ जौ बोनी चाहिए और जहाँ तेंदू पत्ते का वृक्ष हो वहाँ 60 दिन में पैदा होने वाली धान की जाति बोनी चाहिए। जहाँ पीपल वृक्ष हो वहाँ कोई भी फसल बोई जा सकती है।

जामुन वृक्ष के आसपास की भूमि काले चने और तिल के लिए श्रेष्ठ हैं। शिरीष वृक्ष के आसपास हरा चना और आम के पास गेहूँ लगाना चाहिए।

पलाश, अरण्डी और सागौन वृक्षों के आसपास हाथियों की, अश्वकरण के आसपास घोड़ों की और पादल पादरी (Stereospermum Personatum) के पास गायों की बहुतायत होती हैं।

आम वृक्ष उल्लास का, भिलावा सुपारी (Semecampus Anacardium) भय का, ताड़ वृक्ष स्वास्थ्य का, काथ (Sami Prosopis Cinerairea) अकाल का और अर्जुन वर्षा का संकेत देते हैं।

वृक्षों का गहराई से अध्ययन, औषधिय वनस्पतियों का सूक्ष्म निरीक्षण और प्रकृति के प्रति गहरे लगाव के कारण हमारे ऋषियों ने सारे विश्व में अपना स्थान बना लिया था। उन्होंने भले ही वृक्षों पर कार्य किया परंतु उनका अध्ययन विज्ञान, दर्शन शास्त्र और सामाजिक शास्त्र की समग्रता लिए हुए था।

सुरपाल द्वारा किए गए निरीक्षण से पता चलता हैं कि मनुष्य की भाँति वृक्षों और वनस्पतियों को भी कफ, पित्त और वात का प्रकोप होता रहता हैं। उन्हें भी हमारी भाँति ब्राह्य और आंतरिक बीमारियाँ होती हैं। मनुष्यों की तरह पौधों को भी खानपान में परहेज कर के बीमारियों से मुक्त कराया जा सकता हैं। उसी तरह बायबडिंग जैसे पदार्थ जो बच्चों का पेट साफ करने के लिए दिये जाते हैं, उन्हें भी वृक्षों के फफूंद नियंत्रण के लिए देने की अनुशंसा सुरपाल ने की हैं।

हमारे ऋषियों ने 175 प्रकार के वृक्षों और वनस्पतियों का अध्ययन किया था। वृक्षायुर्वेद का एक

उद्देश्य तो जैव विविधता को बढ़ावा देना था। जनता की श्रद्धा, भक्ति, पूजापाठ की और आसक्ति को देखकर ही सुरपाल ने वृक्षों की महत्ता और महत्व को बढ़ाया था। उसके निरीक्षण में लोक कलाओं का अद्भुत मेल हैं। उन्होंने इस जैव विविधता के सम्वर्धन के तरीके भी बताए।

सुरपाल जैविक खादों के प्रकार तथा उन्हें बनाने और इस्तेमाल करने के तरीके भी बताते हैं। विभिन्न वनस्पतियों से पौधपोषण और रोगों को दूर करने वाली दवाइयाँ बनाने के नुस्खे भी वृक्षायुर्वेद में मिलते हैं।

ग १. आज के सन्दर्भ में वृक्षायुर्वेद का महत्व

मानव विकास में उल्लेखित धर्म, कर्म, काम और मोक्ष इन चार महत्वपूर्ण पहलुओं को वृक्षायुर्वेद का अभ्यास नई दिशा देता हैं। हमारे जीवन में वृक्षों का महत्वपूर्ण स्थान हैं और उनका सम्पूर्ण ज्ञान हमारा जीवन समृद्ध कर सकता हैं।

हालांकि यह कतई जरूरी नहीं कि वृक्षायुर्वेद में एक हजार साल पहले जो भी लिखा गया हैं वह आज भी हमारे काम आ सकता हैं, क्योंकि दोनों काल की जीवन पद्धतियाँ और परिवेश अलग – अलग थे। उस समय जनसंख्या इतनी नहीं थी।

कृषियोग्य भूमि का स्त्रोत इतना संकुचित नहीं था जितना आज हैं। उस समय के ऋषि–मुनियों ने प्रेरक तर्कों के बल पर विभिन्न प्रयोग करके जरूरी निष्कर्ष निकाले थे। उस समय उपज बढ़ाने के लिए किसी भी आदान की खपत को सामने रखकर प्रयोग नहीं किये जाते थे, समय और स्थान के अनुसार वातावरण को देखकर प्रयोग किये जाते थे, जो आज के हमारे कृषि विज्ञान में दिखाई नहीं देता हैं।

सुरपाल का वृक्षायुर्वेद आधुनिक कृषि वैज्ञानिकों को आव्हान करता है कि वृक्षों का अधिक नज़दीकी से व गहराई से निरीक्षण करें।

सुरपाल के वृक्षायुर्वेद में कृषि उत्पादन बढ़ाने के या रोग दूर करने के बताए गए कई उपाय अप्रासंगिक हैं और आज के सन्दर्भ में उनका पालन करना किसानों के लिए सम्भव नहीं हैं। जैसे कई जगह सुरपाल ने वृक्षों की जड़ों को मछली, बकरा, गाय, हिरन, हाथी या अन्य कई प्राणियों के माँस और रक्त से उपचारित करने पर जोर दिया हैं, या हाथिनी का दूध छिड़काव करने की सलाह दी हैं। कई जगह देशी शराब के उपचार भी बताए गए हैं। हालाँकि नए युग में जैवगतिकीय (बायो डायनामिक) खेती में गाय के सींग या मरी हुई गाय के आंतों से खाद बनाने की प्रक्रिया अनुशंसित की गई हैं या मुर्गी के अण्डों के अवशेषों से खाद बनाने की प्रक्रियाओं पर भी प्रयोग हो रहे हैं। हमारे अधिकांश किसान शाकाहारी हैं, कई तो प्याज, लहसुन भी नहीं खाते हैं। उन्हें इस प्रकार के उपचार स्वीकार्य होंगे यह सम्भव नहीं लगता।

तीसरे दशक में लिखा गया अग्निपुराण धनवन्तरि की कृषि सूक्तियों को दर्शाता हैं। धनवन्तरि का कहना था कि खेत की उत्तर दिशा में रबर, पूर्व दिशा में बड़ का पेड़, दक्षिण में आम का पेड़ और पश्चिम में पीपल का पेड़ फलदायी होता हैं। उन्होंने यह भी बताया कि नदी किनारे कौन से नक्षत्र में कौन से पेड़ लगाए जाने चाहिए। इन वृक्षों को गर्मी में सुबह–शाम, ठंड में एक दिन छोड़कर और बारिश में रात को सींचना चाहिए। धरती यदि सूख गई हो तो पानी में बायबडिंग और घी मिलाकर देना चाहिए। यदि फल खराब हो रहे हो तो ठण्डे पानी में तिल, काला चना, मूंगा और जौं का मिश्रण बनाकर खेत सींचना चाहिए।

वृक्षों में आंख बांधने (बडिंग) की कलाओं का भी वर्णन हैं। बेर और अनार, संतरे, नींबू और सेब के वृक्षों में आँख चढ़ाई जा सकती है। संतरे और चकोतरे की आंखें बांधना, जामुन और आम की कलमें बांधना, सफेद और गुलाबी रंग के गुलाब की आंखे बांधना, सफेद और लाल रंग की कनेर की आंखे बांधना, तरबूज और अनार की आंखें बांधना आदि तरीकों का धनवंतरि ने वर्णन किया हैं।

यह भी बताया गया कि मृत पशुओं के पुराने चमड़ों को भूमि में गाड़कर यदि वहाँ केले का पेड़ लगाया जाए तो अच्छे केले आते हैं।

अच्छी किस्म के और मीठे फलों के लिए बांस की टोकनियाँ बनाकर फलों के आसपास उसी वृक्ष की पत्तियाँ डालकर लगाने से फल ज्यादा और मीठे लगते हैं।

धनवंतरी ने फलों को ज्यादा देर तक पके रहने देने के लिए कई उपाय सुझाए हैं। ये सभी उपाय देसी पद्धति पर आधारित हैं और हमारे किसान उन्हें आसानी से कर सकते हैं।

एक ही वृक्ष में खट्टे और मीठे फलों की बहार के लिए जड़ों को अलग – अलग तरीके से उपचारित किया जाना चाहिए। जैसे :–

1) तिलहनी फसलों की खली में भेड़ की मेंगनी मिलाकर वृक्षों को देना चाहिए।
2) जड़ों की मिट्टी हटाकर खुला करो। दही को भेड़ की मेंगनी से उपचारित करो। उसी प्रकार खट्टे दही में ईंट का बारिक चूर्ण डालकर जड़ों को उपचारित करो।

अग्निपुराण में फलों को वृक्षों से गिराने के लिए लोभान की धूप के उपचार बताए गए हैं। फूल वृक्षों को सदाबहार करने के लिए उस वृक्ष में चार – चार बार आंख बांधने की सिफारिश की गई हैं। उसी प्रकार पलाश के फूलों से उपचारित पानी के उपयोग की सिफारिश की गई हैं।

गुलाब के फूलों को एक साल तरोताजा रखने के लिए निम्न तरीका अपनाए :–

एक बड़ा गड्ढा खोदकर उसमें पानी भरें। पानी को भाँप बन कर उड़ जाने दें। अलग – अलग बर्तनों में अलग – अलग रंग की गुलाब की कलियों को रख दें एवं उसे ढ़ँक दें। उसके ऊपर चूने का पानी भरा बर्तन रख दें, गड्ढे को ढ़ँक दें। एक साल तक फूल तरोताजा रहेंगे।

फसल को पाले से बचाने के लिए सिंचाई के साथ तिल के तेल का प्रयोग करना चाहिए, उससे दीमक का प्रकोप भी कम होगा।

कीड़ों के नियंत्रण के लिए हींग का इस्तेमाल करें।

दीमक के नियंत्रण के लिए निम्नलिखित वस्तुओं का मिश्रण उपयुक्त माना गया है:–

सोमल 225 ग्राम + राई की खली (पर्याप्त) + हींग 112 ग्राम + लहसुन 1 किलो + खीनपा (Lepadesia Pyrotechnia) 1 किलो + आंक या Nadar tree 450 ग्राम + भेड़ों की मेंगनी।

ग २. खाद

सदियों से हमने गोबर और गोमूत्र के पौध पोषण गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया और ना ही जैविक वस्तुओं के प्रत्यर्पण (रिसायकलिंग) के महत्व को जाना। हमारी जाति प्रथा और ऊँच–नीच भेदभाव के कारण मल–मूत्र जैसे महत्वपूर्ण आदानों को भूमि से दूर रखा।

जैविक खाद तीन तरीको से मिलता है :–

1) पशु स्त्रोत से
2) सब्जियों और खेत उपज के अवशेषों से
3) खनिज पदार्थों से

उल्लेखनीय है कि भूमि में जितना अधिक जीवांश होगा पौधा हवा से उतना अधिक पानी सोखेगा।

मानव मल–मूल से प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 3 किलो अमोनिया और 3 किलो फास्फोरस मिलता हैं। इतना होने पर भी हमारे देश की किसी भी नगर पालिका ने मानवीय विष्ठा ओर मूत्र को खेतों तक नहीं पहुँचाया और इस तरह हमारे खेत महत्वपूर्ण तत्वों और जल से वंचित होते गए क्योंकि जिस खेत में अधिक जैव पदार्थ होंगे वहाँ जल, वायु और सूर्य ऊर्जा का अधिक संचार होगा।

ग ३. तिल

हमारे देश में 3000 वर्ष पूर्व से तिल फसल का महत्व रहा हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में भी तिल के दाने पाए गए थे। हमारे यहाँ अथर्ववेद, मैत्रेय संहिता, सातपाठ, ब्राम्हण तैत्रेय संहिता तथा वनस्पति संहिता में भी तिल का उल्लेख मिलता हैं।

यहाँ पहले दूध और चावल के साथ तिल का मिश्रण और मूंग और तिल का मिश्रण प्रचलित था। मनु स्मृति में सूर्यास्त के बाद तिल का प्रयोग वर्जित था। नवनितका में तिल का प्रयोग बालों को रंग देने के लिए और उनकी पत्तियों से बालों को धोने के लिए भी किया जाता रहा। फसल उत्पादन बढ़ाने और खरपतवार को दबाने के लिए भी तिल बोया जाता था।

जैन धर्म में तिल काफी लोकप्रिय होता था। तिल का औषधीय महत्व भी है। कब्जियत दूर करने तथा पेचिश में तिल उपयोगी है।

घ १. प्राचीन खेती में स्त्रियों का महत्व

केवल घरों में ही नहीं अपितु फसल उत्पादन में भी स्त्रियों की बराबरी की भागीदारी रही। खेत, बोवनी, खरपतवार निकालना, हल चलाने, फसल कटाई और गहाई में वे पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर काम करती थीं। उन्हें बीजोपचार, फसलचक्र, पौधरक्षा, पौध पोषण सबका अच्छा खासा ज्ञान था।

इसके अलावा कपड़े की बुनाई, रंगाई, लुहारी, सुतारी आदि में भी महिलाओं का योगदान रहा।

खेती के अलावा धार्मिक कार्यो में भी जैन साध्वी, शिक्षिका, परिचारिका का कार्य वे करती आई हैं। बाजार में कृषि उपज की बिक्री, अन्न सुरक्षा, व्यापार, धातु गहने निर्माण, संदेश वाहकों का भी काम प्राचीन समय में स्त्रियों ने किया।

मध्य युग में युद्धों के फलस्वरूप आए सामाजिक बदलाव के कारण महिलाओं की स्थिति बिगड़ी। बदलते परिवेश में बाल विवाह रोकना और पाठशालाओं और महाविद्यालयों में स्त्रियों का अनुपात बढ़ाया जाना चाहिए। स्त्री और पुरुषों के वेतन समान हों, पढ़ी – लिखी महिलाओं का योगदान बढ़े ऐसी स्थिति निर्मित होना आवश्यक है।

आज की खेती

भारत की सभ्यता मिश्र, चीन और इराक इतनी प्राचीन है जबकि यूनान की सभ्यता उतनी पुरानी नहीं है । मिश्र की सभ्यता समय के साथ समाप्त हो गई, वहाँ की सभ्यता पुराने स्मारकों और बड़े – बड़े प्रसादों के खण्डहरों पिरामिड़ में ही दिखाई देती है। ईराक और इरान में भी वह टिक नहीं सकी। यूरोप तो यूनान का ही जैसे बच्चा देश हैं। चीन और भारत में आज तक प्राचीन सभ्यता टिकी हुई हैं।

आर्यों के आने के पहले भी यह देश प्रगतिशील देश था। तमिल, तेलूगू, कन्नड़ और मलयालय भाषी क्षेत्रों में द्रविड़ सभ्यता बरकरार थी। आर्यों ने भारत में प्रवेश किया और धीरे–धीरे वे यहाँ की सभ्यता में घुलमिल गये। आर्यों ने ही भारत में ग्रामीण प्रणाली का विकास किया। उस समय ग्राम पंचायतें सक्रिय हुआ करती थीं। हमारे देश से विदेशों में काली मिर्च, चावल, मोती और सोने का व्यापार होता था। मिश्र के लोग यहाँ की नील में कपड़े रंगवाते थे।

हमारे देश में यूनान से सिकन्दर महान आया मगर अपने स्वास्थ्य की कमजोरी के कारण अफगानिस्तान के आगे नहीं बढ़ पाया। उसकी मृत्यु के बाद उसके सेनापति सेल्युकस ने उस समय के भारत के राजा चन्द्रगुप्त मौर्य से टक्कर ली, इस लड़ाई में सेल्युकस हार गया।

चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद उसका पोता अशोक गद्दी पर बैठा और उसने अपना साम्राज्य फैलाया। दक्षिण में कलिंग पर हुई उसकी ऐतिहासिक विजय के बाद उसे वैराग्य बोध हुआ और उसने बौद्ध धर्म अपना लिया।

अशोक के बाद आन्ध्रप्रदेश का उत्थान हुआ। आन्ध्र प्रदेश से विदेशों में माल की खपत बहुत बड़े पैमाने पर होती थी।

दक्षिण भारत में चालुक्य राज्य भी कायम हुआ था। चालुक्य राज्य का राजा था राजेन्द्र वर्मा, जिसने चोलापुर में सिंचाई के लिए पहला बड़ा बांध बनाया और उससे 16 मील लम्बी नहर निकाली। आम जनता के लिए यह एक अजूबा था क्योंकि खेतों की सिंचाई के लिए बांध और नहर की कल्पना ही उस समय विश्व में नई थी।

जगतगुरु शंकराचार्य का उदय भी इसी समय केरल में हुआ और उत्तर भारत में मुसलमानों का आक्रमण भी लगभग इसी समय प्रारम्भ हुआ। वैसे तो तुर्कीस्तान और मंगोलिया से मोहम्मद गज़नवी, चंगेज़खां जैसे कई आक्रमणकारी आये थे। दक्षिण में सन् 1497 में पुर्तगाल से वास्कोडिगामा भी व्यापार करने भारत आया।

अ १. दारा शिकोह

1526 में चंगेज़ खां और तैमूरलंग का वंशज बाबर भारत आया। उसके बाद यहां नियमित रूप से मुस्लिम सत्ता कायम हो गई। बाबर के बाद हुमायूं, अकबर, जहांगीर, शाहजहां जैसे पराक्रमी राजाओं ने भारत पर शासन किया। शाहजहां के बेटे दारा शिकोह की भारतीय खेती और दर्शनशास्त्र में गहरी रुचि थी। उसका कार्यकाल 1627 से 1658 तक ही रहा, मगर इस दौरान उसने भारतीय खेती और भारतीय

जीवन पद्धति समझने के लिए भागवत् गीता, योगवशिष्ठ और उपनिषदों का अभ्यास किया। उसका राज्य गुजरात तक हीं सीमित था। उसके समय गुजरात में कपास, ज्वार, बाजरा, गन्ना, अलसी, केला, नारियल, तिल, जीरा, धनियां, प्याज, मसूर और लहसुन की अच्छी खेती होती थी।

दारा शिकोह ने नारियल, केला, आम, खजुर, अंगूर, अंजीर, नींबू, मौसम्बी, नारंगी, जाम, अनार, खरतुन, सेब, नाशपाती, आडू, अखरोट, पिस्ता, आलूबुखारा, काजू, जर्दालु, शहतूत, बादाम और पान की बागवानी में काफी दिलचस्पी दिखाई थी। इनकी अधिकतर खेती कश्मीर में की जाती थी, जिसकी उपज आगरा में आकर बिकती थी।

उपरोक्त फसलों के अलावा मसाले वाली तथा अन्य फसलें लौंग, इलायची, जायपत्री, धनियां, सौंफ, काला चना, खस, मटर, कमल, नील, ककड़ी, लाल और सफेद कद्दू, पालक, गोभी, गाजर, मूली आदि की भी अच्छी काश्त होती थी।

दारा शिकोह ने वृक्षों के लिए गाय का गोबर, सूअर का मल एवं मानव मल–मूत्र से खाद बनाने पर भी जोर दिया था। वृक्षों और फसलों के लिए जानवरों का मांस भी खाद के रूप में इस्तेमाल किया जाता था।

दारा शिकोह ने बागवानी में चश्में चढ़ाना, कलमें छाँटना, दो वृक्षों को कलमों द्वारा बांधना आदि का भी प्रशिक्षण प्राप्त किया था।

मध्य युग में भारतीय समाज में कई परिवर्तन आए लेकिन हमारे ग्रामीण समाज का मूल ढ़ाचा कभी नहीं बदला। मुस्लिम शासन के समय जरूर कुछ नई हस्त कलाओं और अन्य कुटीर उद्योगों के कारण आबादी में थोड़ा परिवर्तन हुआ। 17 वीं सदी से पहले निश्चिम तौर पर यह देश कृषि प्रधान था। इसी समय उत्तर प्रदेश का गंगा नदी का कछार, जो पहले जंगल ही जंगल हुआ करता था, उसे साफ कर खेती लायक बनाया गया।

मोहम्मद तुगलक ने कुएं खुदवाने के लिए जरूर किसानों को शासकीय कोषालय से कर्ज मुहैय्या कराया था। यमुना नदी से नहरें खोदी गई थीं। फिर सतलुज नदी में भी नहरें काटी गईं। उन दिनों देश में गेंहूँ, चना, ज्वार, जौ और कपास बोई जाती थी। कई बार खराब मौसम के कारण किसानों का लगान और तकाबी माफ की जाती थी। चावल साल में तीन बार बोए जाते थे क्योंकि जमीन उर्वरा थी। जंगल अधिक होने से पशुओं को भरपेट चारा मिलता था। दूध तथा दूध से जुड़े उत्पादों का उत्पादन होता था। बैलगाड़ी परिवहन का प्रमुख साधन था।

मुगल कालीन युग में फसलों को गोबर की खाद देने की प्रथा थी। समुद्र के पास खेतों में मछली की खाद भी दी जाती थी। रहट (पर्शियन व्हील) कुओं पर चलने लगे थे। पश्चिम उत्तर प्रदेश में सिंचाई के साधन उपलब्ध थे। उस दौरान पुर्तगान से भी कुछ फसलें आईं, जिनमें मूंगफली, तम्बाकू और आलू प्रमुख थे। काजू, अमरूद, सीताफल, चीकू, अनन्नास, मिर्च, मक्का, कपास और नील किसानों से उगवाया जाता था।

1550 में पुर्तगाल में वृक्षों में गुटी बांधने की कला सिखाई जाती थी लेकिन वह केवल गोवा तक ही सीमित थी, क्योंकि वहीं उनका शासन था। 1750 के बाद मुगल सल्तनत में गूटी बांधने का तंत्र पूरे भारत में छा गया था।

उन दिनों भूमि का विभाजन इस प्रकार होता था :–

1) बरन/बस्ती। किसानों का रहवासी इलाका

2) औदबसा बसा या चौक जहां गायों का गोष्ठ और अनाज के कोठे होते थे।

3) लाल या वह जगह जहां किसानी होती थी।

4) मट या समतल जहां कुछ भी नहीं होता था।

5) पतीन – वह जगह, जहां खेती होती थी लेकिन जिसे यूं ही छोड़ दिया जाता था।

6) बंजीर – जंगल क्षेत्र

7) उसर – रेगिस्तान, नालियां आदि। पहले उन दिनों खेती की जोत की सीमाओं में बहुत ज्यादा अंतर था। किसान 4 प्रकार के वर्गों में विभाजित किए जा सकते थे।

1) मुक्करीर – वह किसान, जिसे पट्टा दिया जाता था और जो लगान का देनदार था भले ही फसल आए या न आए।

2) पैकश्त – गांव में हरने वाला किसान, जिसको जहाँ भी चाहें खेती करने की छूट थी।

3) फसली या खुद काश्त – ऐसे किसान, जिन्हें हर साल खेती के लिए पट्टा दिया जाता था और जो परगने में रहते थे।

4) कलजनाह – जो किसी दूसरे किसान के हुक्म के अन्दर खेती करता था।

इसके अलावा मुकादम होते थे, जिनका काम था नई भूमि काश्त के अन्दर लाना। खिदमती प्रजा या मजदूर को रोजनदारी पर रखा जाता था। अक्सर अकाल पड़ते थे। किसानों और जमींदारों के बीच झगड़ा होना आम बात थी। अकाल के कारण किसान गांव छोड़कर पलायन करने लगते थे। उन दिनों समाज कृषि उत्पादन में रुचि नहीं लेता था। केवल अतिरिक्त अनाज और उसके विपणन में रुचि दिखाई जाती थी। इस कारण किसानों की व्यावहारिक कठिनाइयों से समाज कभी रूबरू नहीं हुआ।

ब १. हमारी फसलें

इत्र और मसाले

खेती में भारत का नाम कई नकद फसलों के कारण ज्यादा फैला, जिनमें मसाले और खुशबूदार फूल ज्यादा लोकप्रिय थे। शहंशाह बाबर फूलों से बने इत्र का शौकीन था। जहाँगीर की पत्नी नूरजहां तो इत्र भरे टब में नहाती थी। उसकी मां ने 1612 ई. में गुलाब का इत्र बनाया था। थाली में गुलाब की पंखुडियों पर गरम पानी जब गिरा तो पानी के ऊपर एक हल्की परत उसे दिखी। उस परत को जब उसने हाथ से उठाकर हथेली पर रगड़ा तो जो महक उठी उसे महक से वह मदमस्त हों गई। उसने अपने दामाद के नाम पर इत्र बनाया, इत्र–ए–जहांगीर। इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ भी भारतीय इत्रों का उपयोग करती थी। 15वें लुईस की प्रेमिका भी हमारे इत्रों का उपयोग करती थी। उसका इत्र का सालाना खर्च 5 लाख रूपये होता था फ्रांस के महलों के हमाम में भारतीय इत्रों का इस्तेमाल होता था। गुलाब लड़कियाँ पंखों में इत्र लगाकर मेहमानों को झलती थी। दरबार में जहां रात्रि का भोज होता था इत्र का छिड़काव किया जाता था। यहां तक कि राजशाही बग्गियों के घोड़ों की पीठ पर भी इत्र मला जाता था।

कहा जाता है कि अठाहरवीं शताब्दी में भारत से इतना इत्र इंग्लैण्ड निर्यात हुआ था कि वहां की पार्लियामेण्ट में इस पर गहरी चिन्ता व्यक्ति की गई। इत्र के कारण वहां श्रृंगार चरम सीमा तक पहुंच गया था, और सांसद भी इस कारण स्त्रियों के मोहजाल में फंस गए थे, लिहाजा 1774 में राजा जॉर्ज तृतीय के शासन काल में इग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में एक कानून पास हुआ की किसी अनपढ़, कुंआरी, शादीशुदा या विधवा ने यदि राजमहल के किसी भी व्यक्ति को इत्र, रंग रोगन या अन्य नकली वस्तुओं से भ्रष्ट किया तो उसे दण्डनीय अपराध माना जाएगा। सौभाग्य से वह कानून अब रद्द हो गया हैं।

सन् 1868 में डब्ल्यू. एच. परविन ने कौमटिन नाम का इत्र बनाया। लौंग के फूल के पराग से बना यह इत्र बाद में अलग – अलग रंगों के अलग – अलग फूलों से कई इत्र बनाने का कारण बना। सेब, नाशपाती, अनन्नास और सन्तरे से कृत्रिम रंग भी बनाए गए।

ब २. हमारे इत्र की महिमा

संस्कृत साहित्य में कहीं–कहीं आसवन के द्वारा खुशबूदार फूलों से इत्र बनाने की कला का वर्णन मिलता है। बादशाह बाबर, जहाँगीर, नूरजहाँ बेगम गुलाब इत्र के शौकिन थे।

कई सालों तक विदेशों में भारतीय इत्र की धूम रही रानी एलिजाबेथ (1533 – 1603) और स्कॉट की महारानी मेरी इन इत्रों का बेरहमी की हद तक इस्तेमाल करती थी।

राजा लुईस (15 वें) की रखैल सालाना 5 लाख रूपये इत्रों पर खर्च करती थी। फ्रांस के दरबार में हमारा इत्र छिड़का जाता था।

ब ३. हमारे इत्र

16 वीं शताब्दी में इग्लैंड में भारत से निर्यात विभिन्न किस्म के इत्रों ने धूम मचा दी। इत्र से चुपड़ी स्त्रियों के कारण इग्लैंड के सांसदों की नैतिकता पर सवाल उठाए जाने लगे और तृतीय जॉर्ज के शासन में सन् 1774 में विशेष कानून निकालकर इत्रों के इस्तेमाल पर रोक लगाई गई।

ब ४. मसाले की खेती

फूलों से बने इत्र के बाद भारत में मसाला फसलों का बोलबाला था। काली मिर्च की पहली खोज भारत में हुई। इसके बाद वह मिश्र और यूरोप सहित विदेशों में लोकप्रिय हुई। दरअसल केवल अमीर देश के रईस किसान ही इस फसल की खेती कर पाते थे। उन दिनों इग्लैण्ड और यूरोप में काली मिर्च का भाव सोने के भाव के बराबर था। समाज के प्रतिष्ठित लोग सोने की तरह काली मिर्च उपहार स्वरूप देते थे महारानी शीबा राजा सोलोमन के लिए सोने के साथ ऊँट से लदी काली मिर्च विशेष रूप से उपहार स्वरूप ले गई थी। जब ईसा के 410 वर्ष बाद रोम को लूटा गया तो 5000 पौण्ड सोने के साथ 3000 पौण्ड काली मिर्च की भी मांग हुई। 13 वीं और 14 वीं शताब्दी में काली मिर्च मकान मालिक को किराये के रूप में दी जाती थी। इंग्लैण्ड का एक राजा दूसरे राजा को उपहार स्वरूप काली मिर्च देता था। वसियतनामे में काली मिर्च को सर्वोत्तम स्थान था। कस्टम ड्यूटी, किराया, कर, कोर्ट के जुर्माने काली मिर्च

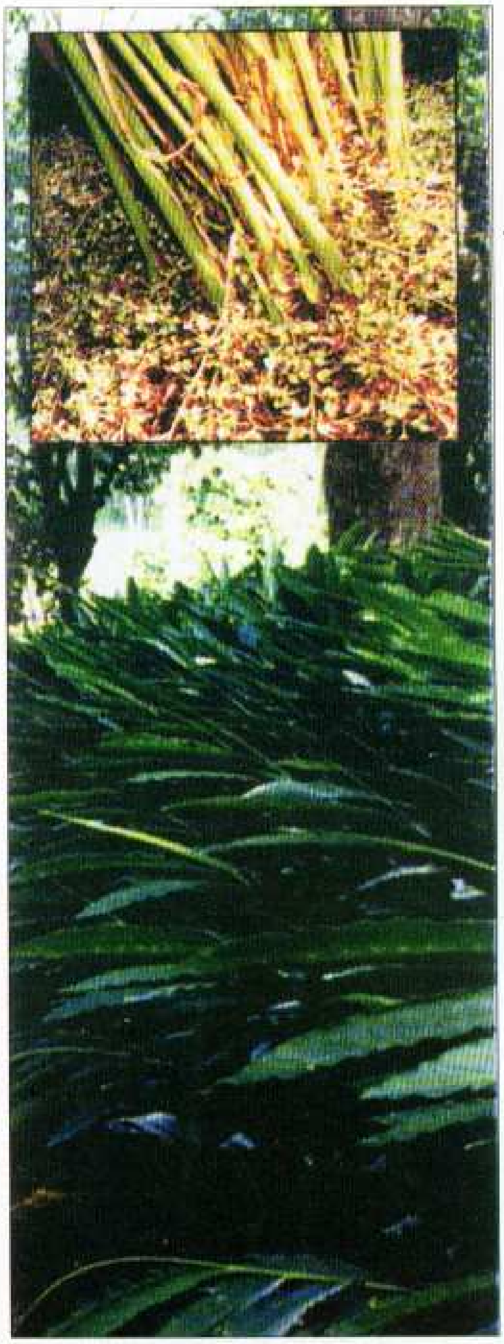

चित्र क्र. 5
हमारे मसालों की महिमा दिखाता इलायची का पेड़

चित्र क्र.7. काली मिर्च का पेड़, फसल कटने को तैयार

के रूप में दिये जाते थे। जमीनों के सौदे, गिरवी रकम, सुन्दर लड़कियाँ, सुन्दर घोड़े, गहने, गलीचे, चमड़ा आदि सब काली मिर्च के बदले बिकता था। उसी प्रकार हमारी अदरक के 1 पौण्ड वजन के बराबर भेड़, 1 पौण्ड लौंग के बदले 7 भेड़ें या 2 गाएं खरीदी जाती थीं।

रोमन साम्राज्य के हेनरी द्वितीय जब रोम गए तब वहां की सड़कें लौंग तेल से धुली जाती थी । चीन* में भगवान की प्रार्थना करते समय पूजा की थाली में लौंग रखी जाती थी। हमारे मसालों से मदिरा भी बनती थी । खाद्य पदार्थ सुरक्षित रखने में मसालों का उपयोग होता था। मृत व्यक्तियों के शरीर को सुगन्धित रखने के लिए इत्र का उपयोग होता था। ग्रीस में भगवान को प्रसन्न करने में इत्र का उपयोग होता था।

भारत की काली मिर्च खाड़ी देशों में भी बहुत लोकप्रिय थी। वास्कोडिगामा जब पुर्तगाल लौटा तो अपने साथ मसाला पावडर और जवाहरात ले गया। इसके कारण खाड़ी देशों में भारत के प्रति ईर्ष्या बढ़ी। लंका में हमारी दालचीनी बिकती थी। वहां दालचीनी इतनी लोकप्रिय और इतनी महत्वपूर्ण थी कि यदि कोई उसकी छाल निकालता तो उसे दण्ड दिया जाता था। गोवा में राज्य करते समय पुर्तगाली राजा ने वहां बड़े – बड़े भण्डार बनवाए जिनमें हमारे यहां की दालचीनी, इलायची, अदरक, नारियल की रस्सी का भण्डारण होता था। हमारे यहां के मसाले जब लिस्बन पहुंचे तो वहां की जनता ने सपने में भी नहीं सोचा था कि रसोई इतनी स्वादिष्ट हो सकती हैं। पुर्तगाल के बाद हॉलैण्ड भी भारत के पीछे पड़ गया। सन् 1695 में भारत से चार जहाज मसाला लदकर जब हॉलैण्ड पहुँचे तो हॉलैण्ड की किस्मत एकदम चमक गई। रातों रात डच लोगों को भारतीय मसालों ने मालामाल कर दिया। वहाँ के गायक, चित्रकार, कवि, वैज्ञानिक आदि भारतीय मसालें से धनवान हो गये। हॉलैण्ड में भारत पर एक सौ साल तक व्यापार किया हॉलैण्ड से मसाला फसलें यूरोप के अन्य देशों में गई। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना के पौधे मसाला फसलों की खुशबू ही थी। आज स्थिति बदल गई है मसालों की जगह अब शक्कर ने ले ली है।

ब ५. गन्ना

हमारे मसालों की महिमा

क्यों कोई विश्वास करेगा की इजिप्त और दक्षिण यूरोप में केवल राजा, महाराज और धनवान लोग ही भारत से निर्यात की गई काली मिर्च (ब्लेक पेपर) का उपयोग अपने भोजन में कर पाते थे। काली मिर्च कई सालों तक सोने के भाव बिकती रही।

जब महारानी शीबा राजा सोलोमन से मिलने गई तो ऊँट लदे भारतीय मसालें भेंट करने गई थीं।

हरमन (1958) ने अपनी पुस्तक द ग्रेट एज ऑफ़ डिस्कवरी में लिखा है कि कस्टम ड्यूटी, किराया और कई प्रकार से शासकीय कर कोर्ट के भुगतान काली मिर्च से होते थे।

हमारे मसालों की महिमा ऐसी कि जब रोम के राजा की सवारी गुजरती तो उसके पहले रोम की सड़कें हमारे लोंग के तेल से धुलती थीं।

गन्ने का जन्म स्थान भारत भी माना जाता है। यूरोप के देशों में उन दिनों गन्ना अति महत्वपूर्ण माना जाता था। यूरोप को पहला गन्ना भारत ने ही खिलाया। 1700 ई. के बाद वहाँ शक्कर का प्रति व्यक्ति सालाना इस्तेमाल 4 पौण्ड था, जो 1820 ई. में 18 पौण्ड हो गया और 20वीं सदी के प्रारम्भ तक वह 100 पौण्ड हो गया था।

ब ६. कपास

मोहनजोदड़ो की खुदाई में जो कपास निकला था वह बहुत ही महीन था। मिस्त्र के कपास से भी वह महीन और बेहतर था। ईसा के 425–484 वर्ष पूर्व ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस् ने लिखा था कि भारत में एक ऐसा झाड हैं, जिसके फलों से सफेद रंग की ऊन निकलती है और वह भेड़ों के ऊन जैसी दिखती है।

3000 वर्षों तक भारत सारे संसार का कपास का केन्द्र बना रहा। कपास के कारण भारत का विदेशों में दबदबा था। ढ़ाका की मलमल तो इतनी महीन थी कि हरी घास पर बिछाई जाती और सुबह ओंस पड़ती तो वह दिखाई नहीं देती थी।

15 वी शताब्दी में इंग्लैण्ड में राजनितिक बदलाव के कारण मलमल के व्यापार में कुछ कमी आई। परन्तु पुर्तगाल की मध्यस्थता के कारण व्यापार बढ़ा। ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्थापित होने के बाद न केवल मलमल का बल्कि अन्य प्रकार के कपड़ों का व्यापार

चित्र क्र. 9. हमारे मसालों की महिमा जायफल का चित्र

भी काफी बढ़ा गया। वहां का ऊन का व्यापार भी बन्द होने की कगार पर था। जिस पर वहां की संसद में गूंज भी उठी थीं। बाद में इंग्लैण्ड को भारत की कपड़े के निर्यात पर लगी पाबन्दी हटानी पड़ी और कपड़ा ऊन व्यापार वहां शुरू हुआ । इस तरह मैनचेस्टर संसार का प्रमुख कपड़ा उद्योग बन गया। 1750 से 1915 तक भारत ने लंकाशायर में भी कपड़ा बिना किसी रोकटोक के बेचा।

ब ७. नील

हमारी फसलें कपास

ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस 425–425 ईसा पूर्व लिखता है कि भारत में वृक्षों से सफेद रंग का ऊन निकलता है।

3000 वर्षों तक भारत कपास और वस्त्रों का पूरे विश्व में केन्द्र बना रहा।

पोतगीज, डच और अग्रेंज व्यापारी भारत में वनस्पतियों के लिए खासकर मसालों के लिए आए। इसके बाद उनका ध्यान गया नील, सागौन की लकड़ी और कपास पर।

हमारी फसलें गन्ना

भारत से जब शक्कर पश्चिम देशों में पहुँची तो वह महँगे मसालों की तरह बिकती थी।

रंगीन कपड़ों का अपना अलग ही आकर्षण है। कल्पना कीजिए कि यदि रंग न होते तो रंगीन पहनावे के बिना औरतें इतनी सुंदर कैसे दिखाई देतीं ? भगवान विष्णु पीले वस्त्र के बिना पीताम्बरधारी कैसे कहलाते ? नीले वस्त्रों के कारण ही कृष्ण और बलराम नीलाम्बर कहलाते हैं।

बाईबल में भी वर्णन हैं कि जोसेफ के रंग बिरंगे

चित्र क्र. 10 हमारे मसालों की महिमा दाल चीनी की फसल

Vanilla
Vanilla fragrans (Sal.) Ames
Orchidaceae

चित्र क्र.11 हमारे मसाले और सुगन्धी फसलों की महिमा
आइस्क्रीम और कस्टर्ड में वैनिला की सुगन्ध

कपड़ों के कारण उसके भाई कैसे कुढ़ते थे। उन दिनों पूरे संसार में कपड़ों को रंग देने वाले दो ही देश थे – भारत और मिस्त्र। रोम में भारत की नील का दबदबा था। नील को अंग्रेजी में इण्डिगो कहते हैं मगर वह इण्डिया (भारत) का है इसलिए उसे इण्डिकम कहा जा था। ईसा से छठी सदी के बाद भारत से चीन को नील का निर्यात होता था, जो 12वीं शताब्दी तक चला। उसके बाद 16 वीं शताब्दी तक मलेशिया को नील का निर्यात होता था। नील उन दिनों सूरत और दक्षिण भारत में होती थी। वहीं से उठाकर पुर्तगाल हॉलैण्ड को बेचता था। 1631 में हमारे नील ने हॉलैण्ड, फ्रांस, जर्मन और इंग्लैण्ड में धूम मचा दी। वहाँ के स्थानीय उत्पादकों को अपना कारोबार बन्द करने की नौबत आई। अन्त में कानूनन इन देशों ने नील का आयात बन्द कर दिया, मगर मांग कम नहीं हुई क्योंकि हमारी नील उच्च कोटि की थी।

वहाँ कानून बनाना पड़ा कि यदि भारत से किसी ने नील मंगाई तो उसे मौत की सजा दी जावेगी। धीरे – धीरे उन देशों में भी नील की खेती प्रारम्भ हो गई।

1656 तक रसायन शास्त्र की प्रगति के कारण कोलतार एवं कोलतार से रंग बनाने का सिलसिला प्रारम्भ हुआ मगर नील की खपत कम नहीं हुई उल्टी भारत में नील की काश्त 1917 तक दुगुनी – तिगुनी हो गई। अंग्रेजी हुकूमत के कारण नील की खेती में वृद्धि हुई। किसानों से जबरदस्ती नील की खेती करवाई जाने लगी। इसके विरोध में सन् 1917 में गांधी जी को डॉ. राजेन्द्रप्रसाद और हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा के साथ चम्पारन का दौरा करना पड़ा।

ब ८. रबर और अफीम

नील की तरह रबर और अफीम की खेती भी भारतीय कृषि अर्थशास्त्र के प्रमुख आधार स्तम्भ रहे। संसार में सबसे अधिक अफीम पैदा करने वाले देशों में भारत पहले स्थान पर है। इसके साथ ही सुपारी, चाय, कॉफी, कोको, शक्कर, आम जैसे कई कृषि उत्पाद हैं, जिनकी विश्व में अच्छी मांग रही।

स १. भारत में अकाल

सन् 1757 में भारत झांसी की लड़ाई हारा और इंग्लैण्ड की ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल बिहार और उड़ीसा में पैर जमाना शुरू कर दिया। अंग्रेज हमारे किसानों को सिखाने लगे कि खेती उपजीविका का नहीं व्यापार का साधन है। इसमें उनकी मंशा हमारे किसानों की हालत में सुधार करना नहीं बल्कि उन्हें पैसे वाला बनाकर उनसे ज्यादा लगान वसूल करना था ताकि इंग्लैण्ड के उद्यागों को पनपने का मौका मिले। इसका व्यापक असर हुआ। बाजार की मांग के अनुसार खेत बोए जाने लगे। जनसंख्या के मुकाबले उत्पादन कई गुना बढ़ा। फिर महायुद्ध हुए। खेती चरमराई। अनाज का रकबा कम हुआ। गन्ने जैसी नकदी फसलों का रकबा बढ़ा। अनाज कम होने से भुखमरी की नौबत आई।

सन् 1864 के आसपास बंगाल और उडीसा में भयानक अकाल पड़ा कई मौत के मुँह में समा गये। इसलिए भारत में खेती का सर्वेक्षण करने और भारतीय खेती में सुधार लाने की दृष्टि से अंग्रेजी हुकूमत ने रॉयल सोसायटी ऑफ एग्रीकल्चर इग्लैण्ड के मृदा रसायन शास्त्री जॉन अगस्तस वोलकेयर के नेतृत्व में कृषि विशेषज्ञों की टीम बुलाई। उस टीम ने 13 माह तक भारत का दौरा किया। एक एक प्रांत देखा और 1866 में अपनी रिपोर्ट भारत शासन को सौंप दी।

उन्हीं के सुझाव पर सन् 1871 में भारत में पहली बार कृषि विभाग की स्थापना हुई। प्रान्तीय कृषि की देखरेख के लिए हर प्रान्त में संचालक, कृषि नियुक्त किये जाए यह भी उन्ही का आग्रह था। अतः उत्तर पश्चिम प्रान्त के लिए भारत का पहला कृषि संचालनालय 1875 में कलकत्ता में स्थापित हुआ। उसके बाद तो सन् 1881 तक हर प्रान्त में कृषि संचालक नियुक्त होने लगे। यह भी महसूस किया जाने लगा कि खेती की हालत सुधारने हेतु मिट्टी परीक्षण और भूमि में सुधार लाना जरूरी है। अतः मद्रास में पहला कृषि रसायन शास्त्री पदस्थ हुआ।

जॉन अगस्तस वोलकेयर भले ही इंग्लैण्ड में कृषि रसायन शास्त्री पद पर रहे हों मगर उन्हें भी खेती का सूक्ष्म ज्ञान नहीं था। भारत का दौरा उनके लिए वरदान साबित हुआ।

पूरे 13 माह तक भारत की पूरब से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण की यात्रा करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यदि किसी ने मुझसे पूछा कि क्या भारत में खेती सुधारने की गुंजाइश है तो मेरा उत्तर होगा 'हां' और 'ना'। क्योंकि भारत इतना बड़ा विशाल देश हैं कि उसके बारे में केवल एक अभिप्राय देना सम्भव नहीं हैं। बिहार, ढाका (तब), खानदेश (महाराष्ट्र का जलगांव, भुसावल, धूलिया), मद्रास का तंजोर जिला, नार्थ वेस्ट फ्रण्टियर का कानपुर जिला, पंजाब का हिसार जिला और मुलतान में सुधार की गुंजाइश हैं, जबकि ठाणे (महाराष्ट्र), गुजरात का नड़ियाद, दक्षिण का कोयम्बटुर, मेरठ, होशियारपुर जैसे प्रान्त सुधरे हुए हैं।

यहां खेत में काम करने वाले मजदूर बहुत मेहनती, ईमानदार और कई मायनों में इंग्लैण्ड के मजदूरों से भी अच्छे हैं।

वोलकेयर महोदय तो मेहनतकश किसान, लहलहाती फसल, अन्तरवर्तीय फसल पद्धति, खेती में प्राकृतिक संसाधनों का यथोचित दोहन देखकर हैरान थे। भारतीय किसानों के बारे में उनका अभिप्राय था, कि वे मेहनतकश हैं, थोड़े परम्परावादी जरूर हैं मगर एक बार ठीक से समझा दो तो नई बातें सीखने में कतराते नहीं हैं। भारतीय खेती में परिवर्तन लाने से पहले यह देखना जरूरी है कि उनकी परम्परा क्या है, तभी परिवर्तन लाया जा सकता है।

भारत की खेती के तौर तरीकों में ही इतनी विविधता है कि एक स्थान से ही यहाँ के किसान दूसरे स्थान के किसानों को प्रशिक्षित कर सकते हैं।

उनके अनुसार भारत में यदि तरक्की नहीं हो रही हैं तो इसका कारण निरक्षरता, छुआछूत और ऊँच–नीच का भेदभाव है। यही कारण हैं कि दोनों वर्गों में काश्त करने वाले किसान होने के बावजूद भी एक दूसरे के यहाँ केवल सीखने के लिए यह लोग नहीं जाते ।

मानवमल से बनी खाद खेतों की हालत सुधार सकती है मगर यह बात किसानों के गले नहीं उतरती। इसके लिए शिक्षा जरूरी हैं। हालाँकि यहाँ भी चीजें सुधर रही हैं और अब ब्राह्मण जाति के किसानों के बेटे भी खेतों में उसका उपयोग करने लगे हैं।

यहाँ मौसम इतना अनियमित हैं कि किसान के किये कराए और मेहनत पर पानी फिर जाता हैं। उन्होने यह भी देखा कि वह इलाका जहाँ सूखा पड़ता है और जहाँ खेती की जोत कम है वहाँ किसान प्रगतिशील और पढ़ा लिखा हैं, जैसे दक्षिण भारत में।

भारत में लोगों का मानना हैं कि जो वर्षा होती हैं उसे 12 भागों में बाँटा जा सकता हैं। 6 भाग तो समुद्र के लिए, 4 भाग जंगल, पहाड़ और पठार आदि के लिए तथा शेष दो भाग खेती के लिए होता है। इसलिए एक ओर जहाँ सिंचाई साधन बढ़ाए जाने चाहिए वहीं दूसरी ओर जंगल, पेड़, पठार और मैदानों को सुरक्षित रखा जाना चाहिए। जॉन वोलकेयर ने भारत की मिट्टी, जल, खाद खेत और औजार, फसलें, कृषि उद्योग, निर्यात, खेती की समस्याएँ यांत्रिकी, कृषि शिक्षा, अनुसंधान कृषि विभाग खेती में स्त्रियों का महत्व आदि विषयों पर विस्तृत अध्ययन किया है, जिसकी मात्र झलक यहाँ प्रस्तुत है।

द १. भारत की मिट्टी

श्री वोलकेयर ने निरीक्षण के दौरान पाया कि यहाँ मिट्टी पर कोई सिलसिलेवार अध्ययन नहीं हुआ है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में पाई जाने वाली मिट्टी की संरचना और बनावट में बहुत ज्यादा फर्क नहीं पाया जाता है। हमारे यहाँ जो वर्षा होती हैं कि उसमें नत्रजन की भारी मात्रा होती हैं। यहाँ सूरज की रोशनी अच्छी होने के कारण उत्पादन अच्छा होता हैं मगर यहाँ एक भ्रम चारों ओर फैलाया गया है कि हमारी मिट्टी में उत्पादकता की कमी है। इसका प्रमुख कारण है कि यहाँ मिट्टी के परीक्षण की कोई उचित व्यवस्था नहीं हैं। जिस क्षेत्र में सिंचाई की अच्छी व्यवस्था हैं जैसे बंगाल वहाँ अधिक सिंचाई के कारण खेतों में ज्यादा क्षार जमा हो गए हैं। उसी तरह तामिलनाडु में अन्य प्रांतों की तुलना में पशुधन कम होने से खेतों में गोबर खाद की मात्रा कम होती है, अतः वहाँ की भूमि की उर्वरता कम आंकी गई हैं।

जैविक खाद की कमी होने के बावजूद यहाँ से तिलहन, गेहूँ और कपास का भारी निर्यात होता था। उत्पादन होने के बाद जमीन को न्यूनतम जैविक पदार्थ भी नहीं दिया जाता था यहाँ तक कि मरे हुए जानवरों की हड्डियाँ तक नहीं दी जाती थीं, फसल के अवशेष जैसे जड़ तने तथा पत्तियाँ जला दिए जाते थे।

कहने को भारत में गेहूँ का प्रति एकड़ उत्पादन 10 बुशल था, जबकि इंग्लैण्ड का 25 बुशल। मगर किसी ने यह नहीं पूछा कि इतना उत्पादन लेने इंग्लैण्ड को कितने माह लगते हैं ? इंग्लैण्ड में खाद भी बहुत डालते हैं और सिंचाई भी खूब करते हैं। यहाँ जितने माह में गेहूँ की फसल कटती हैं उससे दोगुना समय वहाँ गेंहूँ पकने के लिए लगता है। भारत में सभी फसलों का 20 प्रतिशत उत्पादन भी यदि बढ़ा तो भारत की भूखमरी दूर हो सकती हैं। भारत के किसान सूखे में भी जल संग्रहण कर लेते हैं और अच्छा उत्पादन ले लेते हैं यह, आश्चर्य की बात हैं।

चूंकि सूरज की रोशनी खेतों में तभी ज्यादा उपलब्ध होती है जब भूमि में ह्युमस पदार्थ ज्यादा हो। अतः हमें खेतों में अधिक से अधिक मात्रा में जैविक खाद डालने की जरूरत है। भूमि में जैविक पदार्थ कम होने से जमीन के खनिज पदार्थ भी फसल को कम मिलते हैं। वैसे भारत में दालों की खेती अधिक होने से भूमि में नत्रजन की उतनी कमी नहीं रहती हैं। भारत की भूमि में पोटाश अधिक और स्फूर काफी मात्रा में रहता हैं।

उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र में एक बड़ी झील हुआ करती थी जिसमें गंगा–जमुना का पानी भरा रहता था और जब पानी निकल जाता तो उसकी गाद भूमि को उपजाऊ बनाये रखती थी । उत्तर प्रदेश के ही सहारनपुर जिलों को, जो कि दूब और कास से समस्याग्रस्त था, इसी प्रकार मानव–मल डालकर उपजाऊ बनाया गया । लखनऊ के पास भी भूमि सुधार के उल्लेखनीय कार्य हुए । दक्षिण महाराष्ट्र में और दक्षिण के गड़ग प्रान्त में कुंदा नदी के पास उगी घास को समाप्त कर उसे खेती योग्य बनाया गया।

उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ और एटा जिलों में सिंचाई विभाग ने कुछ प्रयोग किये। वहाँ क्षारीय भूमि में 700 एकड़ में बबूल के पेड़ लगाकर उसे दुरूस्त किया गया। कानपुर के पास घास और जलाऊ लकड़ी के वृक्ष लगाकर भूमि को खेती योग्य बनाया गया। अम्रामौऊ में पीर मोहम्मद हुसैन नाम के सहायक संचालक, कृषि ने शासन से 70 एकड़ ऊसर जमीन खरीदी और उस पर जलाऊ लकड़ी और घास लगाई। घास खड़ी होने पर उसे काटकर वहीं पर जमीन में गाड़ दी। कपूरथला के पास भी सैकड़ों एकड़ ऊसर जमीन को भी इसी तरह उर्वरित बनाया गया।

भारत की खेती सुदृढ़ है। उसे और भी सुदृढ़ बनायी जा सकती है, बशर्ते सूखे इलाके में सिंचाई की व्यवस्था की जाए, भूमि में जैविक खाद प्रचुर मात्रा में फैलाया जाए, खेतों और फसलों का नियम से निरीक्षण हो और नित नए प्रयोग होते रहें।

द २. जल

जहाँ तक खेतों में जल की उपलब्धता का सवाल है, डॉ. वोलकेयर ने पाया कि जल का एकमात्र स्त्रोत वर्षा ही है जो प्रचुर मात्रा में होती है। मध्य प्रान्त में मिट्टी चिकनी और गहरी होने से वहाँ जीवांश और नमी अधिक मात्रा में पाये जाते थे। राजस्थान में अक्सर सूखा पड़ता था। पंजबा, मुलतान और गुजरात के कुछ हिस्सों में जहाँ कपास कुछ अच्छा होता है सिंचाई की ज्यादा जरूरत नहीं रहती। दक्षिण में गोदावरी,

कृष्णा और कावेरी इलाके में नहर से सिंचाई होती है। तामिलनाडु में बड़े – बड़े तालाब बनाए गए हैं जिनसे सिंचाई होती है। पश्चिम बंगाल में उथले पोखर बनाए गए हैं जिनसे सिंचाई की जाती है। अन्य जगह कुओं से सिंचाई की जाती है। भारत में जब सूखा रहता था और सिंचाई की व्यवस्था नहीं होती थी तब शासन किसानों को तकाबी बाँटता था।

भारत में कई प्रान्त ऐसे हैं जहाँ सिंचाई की व्यवस्था नहीं के बराबर है लेकिन उन क्षेत्रों में पहाड़ होने से नदियाँ या नालें बहकर आते हैं और बीच की भूमि में पर्याप्त जल और उपजाऊ गाद छोड़ जाते हैं। उत्तरी भारत में बर्फीली चट्टानों से नदियों का पानी नहरों से सिंचाई के लिए लिया जाता है।

पंजाब में अमृतसर के पास बड़ी दोआब नहर से अच्छी सिंचाई होती है। दक्षिणी भारत में होस्पेट के पास तुंगभद्रा नदी पर बने बाँध की नहरों के पानी से गन्ने को अच्छी सिंचाई मिल जाती है। मध्य प्रांत में अधिकतर सिंचाई कुओं से ही होती हैं।

जिन इलाकों में सिंचाई की व्यवस्था नहीं है वहाँ तकाबी देकर किसानों को सिंचाई के लिए कुए या नहरें बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। कुल मिलाकर भारत में सिंचाई के साधन बढ़ाने के लिए बांध और पोखर बांधने की काफी सम्भावनाएँ हैं।

द ३. खाद

डॉ. वोलकेयर कहते हैं कि हालाँकि अन्य देशों के मुकाबले हमारे खेतों की मृदा में जैविक पदार्थ अधिक होते थे फिर भी फसल का उत्पादन बढ़ाने में खाद की काफी कमी महसूस की जाती थी। खेतों में जल और खाद एक–दूसरे के पूरक रहे हैं और भारतीय खेती के विकास के लिए दोनों जरूरी है।

भारत में गाय का अधिकांश गोबर चूल्हा जलाने और खाना बनाने के काम में लिया जाता हैं। दूसरा गोशाला से जो भी गोबर या गोमूत्र निकलता हैं उसका रखरखाव ठीक नहीं हैं। शासन और कृषि विभाग किसानों को जलाऊ लकड़ी मुहैया कराकर गोबर को जलाने से बचाया जा सकता हैं।

वोलकेयर (1871) कहते हैं कि भारत की समस्या बढ़ती हुई जनसंख्या है, जिसका सीधा भार खेत पर और वहाँ से निकले खाद्यान्नों पर पड़ता है। यदि प्रति एकड़ एक या दो बुशल भी बढ़ जाए तो खाद्यान्न की समस्या हल हो सकती हैं जिसके लिए खेतों को अधिक खाद चाहिए। किसानों को और कृषि विभाग को प्रदर्शन डालकर किसानों को बताना चाहिए कि खाद डालने से किस प्रकार उपज बढ़ती है। कृषि के विद्यालय खोले जाने चाहिए और शिक्षा द्वारा यह बतलाया जाना चाहिए कि खाद के क्या–क्या फायदे होते हैं। इस काम के लिए शासन को एक कृषि रसायन शास्त्री नियुक्त करना चाहिए। जो खाद का महत्व बता सकें।

भारत में जिस गोबर की खाद का अधिकतर उपयोग होता है वह इंग्लैण्ड में पाए जाने वाली गोबर की खाद से ज्यादा पोषक होती हैं।

द ४. खाद का विश्लेषण

भारत की गोबर खाद बनाम इंग्लैण्ड की गोबर खाद ।

	पतली गाय का	धूप में सूखे कण्डे	इग्लैंण्ड का गोबर
नमी	19.59	7.22	66.17
जैविक तत्व	59.26	66.37	28.24
नत्रजन	1.34	1.48	0.65
रेत	1.62	1.80	0.79
एल्युमीनियम और लोहा (आक्साइड)	3.36	–––	0.42
चूना	1.04	1.96	1.35
मैग्नेशियम	0.44	–––	0.15
पोटाश	1.16	0.63	0.67
सोड़ा	0.34	–––	0.08
फॉस्फोरस	0.47	0.54	0.31
चूने के फॉस्फेट्स	1.03	1.18	0.68

स्त्रोत : रिपोर्ट ऑन दी इम्प्रुव्हमेंट इन इंडियन एग्रीकल्चर 1896 पृष्ठ 98.

गोबर खाद के अलावा हरी खाद का भी भारत में प्रारम्भ से उपयोग होता रहा है ।

इसके अलावा नील की खली, तिल की खली का अंग्रेज शासन के कारण निर्यात होने लगा, अगर निर्यात कम कर दें तो उसका भी खाद के रूप उपयोग हो सकेगा ।

भारत में महूए से शराब और उसके फूलों से खाद बनायी जाती थी । अंग्रेज शासन की निर्यात नीति के कारण भारत के खेत जैविक तत्वों में पिछड़ गए । हमारे यहाँ सीवन की लकड़ी का भी खाद के रूप में उपयोग होने लगा था । खासकर धान के खेतों में और अदरक के खेतों में गन्ने के पत्तों को बिछाकर उनका खाद के रूप में उपयोग करना आम बात हो गई थी । इसके अलावा खाक, तरवर, करंज और वसाका के पत्तों का खाद के रूप में उपयोग आम था ।

हमारे यहाँ धान के खेतों में वसाका बोया जाता था । उसके पत्ते खाद का काम करते थे और वहाँ कोई दूसरी खरपतवार नहीं उगती थी । कर्नाटक में अफीम के भी गन्ने के पत्तों का खाद जैसा उपयोग होता था ।

पत्तों, डालियों ओर गोबर को जलाकर राख बनाई जाती थी जिसे खेतों में डालते थे ।

पोखर और तालाबों की गाद भी खाद के रूप में काम में ली जाती थी। उच्च और निम्न स्तर की मिट्टी मिलाकर भी खाद बनाई जाती थी। बागड़ को भी मिट्टी में मिलाकर खाद के रूप में लेते थे।

मछली की खाद और रॉक फॉस्फेट का भी इस्तेमाल होता था। भारत से चालीस हजार टन हड्डी चूरे का निर्यात प्रति वर्ष होता था। यहाँ के पशुओं का मल–मूत्र इंलैंड के पशुओं की बनिस्बत भूमि के लिए

ज्यादा पोषक पाया जाता था।

यहाँ चारे का उत्पादन औसतन दो टन प्रति एकड़ होता था, जबकि इंग्लैण्ड में डेढ़ टन होता था।

हमारा दुग्ध व्यवसाय और पशुपालन प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ रहा है। हमारे यहाँ सदियों से तिल, कुसुम, कपास, मूँगफली और अलसी की खली पशुओं को खिलाई जाती रही है। इसके अलावा सूखा व हरा चारा भी खिलाया जाता रहा है। चना और कुलथा भी दिया जाता था। महाराष्ट्र के जानवर ताकतवर, मध्य प्रांत के बैल अच्छी नस्ल के होते हैं। हमारे यहाँ पशुधन दूध के लिए रखा जाता हैं, जबकि विदेशों में गौ माँस के लिए। एक सर्वेक्षण में पाया गया कि इंग्लैण्ड की गायों के मुकाबले भारत की भैंसें ज्यादा, दूध देती हैं। हमारे यहाँ के दूध में वसा जहाँ 7.5 प्रतिशत तथा वसा रहित ठोस (एस. एन. एफ.) पदार्थ 18 प्रतिशत होता हैं इंग्लैंड की गायों में वह क्रमशः 3.4 प्रतिशत तथा 12.13 प्रतिशत ही होता है।

द ५. खेत औजार

भारत के विभिन्न प्रान्तों में मिट्टी की संरचना में भिन्न होने से उन पर चलाए जाने वाले औजार भी भिन्न प्रकार के परंतु उन्नत होते थे। कोंकण में हल्की मिट्टी होने से हल का वजन करीब 10 किलो बैठता था तो खानदेश के हल का 75 किलो। मेरठ के लिए इंग्लैण्ड से हल मंगाए गए थे, मगर वे टिके नहीं। यहाँ औजारों में सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है। अलबत्ता शकर कारखानों में सुधारित मशीनों की जरूरत है ऐसा वोलकेयर का मानना था।

क. खेती की विशेषताएँ

वोलकेयर के अनुसार इंग्लैण्ड के मुकाबले भारत में कई किस्म की फसलें बोई जाती हैं। विदेशों से गेहूँ, तिलहनों और कपास की बढ़ती मांग से यहाँ के फसल निर्यात में उल्लेखनीय बढ़ोतरी हुई है। पंजाब में गेहूँ के निर्यात में 11 प्रतिशत बढ़ोतरी पाई गई।

उनका मानना था भारत की खेती की विशेषता यह हैं कि बारिश में किसान खेत नहीं जोतते। खेत पानी से भरे होते हैं। वर्षा जल में चूंकि नत्रजन अधिक होता हैं अतः भूमि की उर्वरा शक्ति अच्छी है।

यहाँ की दूसरी विशेषता हैं दलहनी और अनाज फसलों का फसल चक्र और इनका चुनाव भी बहुत ही बुद्धिमानी से किया जाता हैं क्योंकि दलहनी फसलों के मुकाबले अनाज फसलें जल्द पकती हैं और कटती हैं। इससे दलहनी फसलों को पकने के लिए ज्यादा जगह और सूर्य प्रकाश मिलता हैं।

फसल चक्र के अलावा मिश्रित और अंतरवर्तीय फसल पद्धति भी यहाँ की विशेषताएं हैं। गेहूँ, चना और जौ या अलसी अच्छी अंतरवर्तीय फसल चक्र प्रवृत्ति हैं, क्योंकि गेहूँ और चना एक साथ पकते हैं। बीच में बोने अलसी का फायदा यह हैं कि उसके रहते मवेशी खेत में घुस नहीं पाते हैं। दूसरा, कुछ फसलों की जड़ें गहरी और कुछ फसलों की जड़ें उथली होती हैं, जिससे कम ज्यादा वर्षा में खेत को नुकसान नहीं होता हैं।

फसलचक्र का भी भारत में एक वैज्ञानिक पहलू है कि कंद मूलों वाली फसलों की कटाई के बाद फल

देने वाली फसलें बोई जाती हैं। जहाँ कपास जैसी रेशेदार फसलें ली जाती हैं उसके बाद उथली जड़ों वाली फसलें लगाना उपयुक्त है। जहाँ वर्षा जल्दी या देर से आती हों वहाँ गर्मी में ज्वार या तिल ही बो देते हैं, ताकि वह अगस्त में कट जाए उसके बाद दो माह तक खेत खाली छोड़ अक्टूम्बर में कपास या चना वहाँ बोते हैं। भारत में बीजों का चुनाव नहीं होता हैं यह गलत प्रथा है। केवल पंजाब, गुजरात और महाराष्ट्र में बीजों का चुनाव होता हैं, अन्य जगह नहीं।

किसानों को गाँव का महाजन बीज बाँटता हैं। कई बार वह हल्का बीज किसानों को देता है। उधारी में बीज देने के बाद अनाप–शनाप ब्याज उनसे वसूल करता है। कई बार बीजों में मिलावट भी पाई गई है।

अमेरिका से आए कपास के बीजों को भारत का मौसम अनुकूल लगा मगर इग्लैण्ड से आया गेहूँ का बीज नहीं चला। क्योंकि वहाँ गेहूँ पकने के लिए 9 माह लगते हैं, यहाँ 4 माह।

नड़ियाद के एक किसान रायबहादुर बछिन्द्र देसाई तम्बाकू लगाते हैं। अपने खेत पर ही उस पर प्रक्रिया कर उसे निर्यात करते हैं। तम्बाकू की तरह कॉफी, चाय, आलू, मक्का भी विदेशों से हमारे देश में आए और यही रच–बस गए।

ख १. कृषि उद्योग और निर्यात

हमारे यहाँ से चाय, कॉफी, शक्कर, नील तथा तम्बाकू निर्यात होते हैं। गन्ने के अलावा खजूर से भी शक्कर बनाई जाती है।

भारत का कपास सर्वश्रेष्ठ कपास है और इसमें सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है ऐसा वोलकेयर ने पाया था। उन्हें यह मालूम था कि मिस्त्र तथा अमेरिका के मुकाबले भारत में उगाया जाने वाला कपास मोटे रेशे का होता है जो हाथ करघों के लिए उपयुक्त है। उन्होंने यह भी पाया कि अहमदाबाद और कोयम्बतुर में साल भर कपास बोया जा सकता है। धारवाड़ के कपास की तो लिव्हरपूल (इग्लैण्ड) में बड़ी मांग होती थी। यहाँ की कपास की विशेषता यह है कि वह जल्दी पकती है और अच्छी उपज देती है। भारतीय किसान लम्बी रेशे वाली और देर से पकने वाली कपास की जातियों में रुचि नहीं रखते हैं।

अगर भारतीय किसान चाहते तो कई लाख टन कपास का बीज निर्यात हो सकता है मगर यहाँ के किसान जानवरों को कपास्या खली खिलाना पसन्द करते हैं। जीयों और जीने दो, यह सह–अस्तित्व की भावना ही भारतीयों के जीवन दर्शन में है, जैसा कि बाद में विनोबा जी कहते थे कि कपास बोवो, गाय भैसों को खली खिलाओ सूती कपड़े पहनो और मक्खन खाओ।

भारत से गेहूँ भी बड़े पैमाने पर यूरोप में निर्यात होता था। मगर उसमें कंकड़ ज्यादा होने से यह धारणा बनी कि भारत का गेहूँ यानी कंकड़ का गेहूँ। हालाँकि हमारे गेहूँ की विदेशों में मांग बहुत अच्छी थी क्योंकि वह उच्च गुणवत्ता वाला होता था और है। 1888 और 1889 में इंग्लैण्ड की संसद में भारतीय गेहूँ में पाये जाने वाले कंकड़ों पर चर्चा हुई। अंत में तय किया गया कि भारत में गेहूँ की निंदाई गहाई के तरीके ही ऐसे हैं कि उसमें कंकड़ आते हैं। अतः महाराष्ट्र से आने वाले गेहूँ में 4 प्रतिशत और कलकत्ता से आने वाले गेहूँ में 5 प्रतिशत मिलावट को मंजूरी दी गई। भारतीय व्यापारियों का कहना था कि साफ–सुथरा गेहूँ भेजने के बाद भी उन्हें ऊँचा दाम नहीं मिलता है। पता लगाया गया कि व्यापारी किसानों से साफ–सुथरा गेहूँ लेते हैं ओर मुनाफा बढ़ाने के लिए उसमें मिट्टी और कंकड़ मिलाते हैं।

चाय, कॉफी, नील के निर्यात के लिए खेतों में तथा उसकी प्रक्रिया में रसायन शास्त्री की सख्त जरूरत है जो सुधरे तरीकों से इन उत्पादों को ऊँचे भाव में निर्यात योग्य बना सकता है।

ख २. कृषि निर्यात के आर्थिक और राजनैतिक पहलू

जनसंख्या, गरीबी, शिक्षा का अभाव आदि का असर भी खेती पर पड़ता है। जहाँ रहन–सहन सस्ता है वहाँ खेती भी सस्ती होगी एवं पिछड़ी हुई दिखेगी। जहाँ संचार व्यवस्था सुधरी है वहाँ खेती विकसित हुई है। जहाँ खेती की जोत कम है वहाँ निजी विनिवेश भी कम होता है। जिन खेतों से किसान 150 रूपयों की फसल ले सकता है वहाँ केवल 40 रूपये मूल्य की फसल लेने के लिए वह 20 रूपये मूल्य का लागत खर्च करता है। हमारे यहाँ गरीबी, सामाजिक कुरीतियाँ इतनी अधिक हैं कि गाँवों में किसान हमेशा कर्ज में ही डूबा रहता है, और जाहिर है कि केवल शिक्षा द्वारा ही वह सामाजिक कुरीतियों और पिछड़ेपन को दूर कर सकता हैं। ब्याह, शादियों में और मृत्युभोज में अनाप–शनाप पैसा खर्च करना किसान की मजबूरी है। आदानों के लिए वह महाजन को भी अनाप–शनाप ब्याज देता है।

ग. जमीन से जुड़ी खेती की समस्याएँ

वोलकेयर कहते है कि भारतीय कृषि अनुसंधान की सबसे बड़ी कमजोरी है कि उसने कभी भी हमारे किसानों की मानसिकता और खेती की जमीनी और व्यवहारिक कठिनाइयों का अभ्यास नहीं किया। सच्चा अनुसंधान वही होता हैं जो व्यावहारिकता पर खरा उतरता है। वैज्ञानिकों को किसानों की उन हालातों पर गौर करना चाहिए जिन हालातों में वह खेती करता है। तभी वह नए कृषि अनुसंधानों और किसानों से जुड़ सकेगा।

बाहरी तथा विदेशागत अनुसंधान कितना भी आकर्षक क्यों न हो उसे किसानों पर लगे हाथ थोपना उचित नहीं है। प्राकृतिक संसाधनों और किसान की नई चीजों को स्वीकारने की मानसिकता को ध्यान में रखकर ही अनुसंधान होना चाहिए। अनुसंधान केन्द्र प्रारम्भ करते समय यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि जल, खाद, चारा और लकड़ी की वहाँ क्या उपलब्धि है। जहाँ अनुसंधान होना है, वहाँ की भौगोलिक स्थिति, किसानों का समाजिक परिवेश ये भी महत्वपूर्ण पहलू हैं जिसकी अनदेखी नहीं करनी चाहिए।

जहाँ तक भारत का सवाल है जॉन अगस्टीन वोलकेयर, जो भारतीय खेती को सुधारने के लिए शासन द्वारा इंग्लैण्ड से बुलाई गई समिति के प्रमुख थे, का कथन था कि "मैं बेहिचक यह कह सकता हूँ कि भारत की खेती का किसी ने भी ठीक से अध्ययन नहीं किया हैं, इसलिए भारत पर कृषि सुधार का कोई कानून बनाना बेमानी हैं। पंजाब प्रान्त के राज्यपाल सर जे. बी.ल्याल, मध्य प्रान्त के कृषि आयुक्त श्री जे.बी. फूलर आदि लिखते हैं कि "भारतीय खेती के बारे में ज्ञान अधूरा है इसलिए किसी भी प्रकार की सुधार की सिफारिश करना उचित नहीं है।" हमारे पास यूरोप की किसी खेती का ज्ञान नहीं है, भारतीय खेती का भी नहीं, इसलिए भारत की खेती का कड़ाई से अध्ययन करना जरूरी है।"

यह सही है कि भारत के किसी भाग में खेती बहुत अच्छी होती है तो दूसरी और एकदम दकियानूसी। मद्रास प्रान्त के राज्यपाल ने भी शिमला में अक्टूबर 1890 में कबूला था कि हमारे पास कृषि अनुसंधान के सभी नतीजों गलत निकले हैं क्योंकि हममें किसी ने उनका अध्ययन ठीक से नहीं किया हैं।

भारत सरकार ने आज तक खेती–सुधार की अनुशंसाएं, लगान और सांख्यिकी के आधार पर की हैं, जो सरासर गलत है।

सर जान अगस्टीन वोलकेयर ने भारत शासन को सलाह दी थी कि भारत के सभी राज्यों की जिलेवार जरूरतों को पहले ध्यान में रखा जाए। वहाँ जल, खाद, चारा और ईंधन की क्या स्थिति है? सिंचाई करना नहर से ठीक रहेगा या कुओं से? तकाबी का आवंटन जिले में कैसा होगा? देखना पड़ेगा कि क्या जिले में चारा और ईंधन सुरक्षित है? दूसरा यह भी देखना पड़ेगा कि क्या एक जिले से दूसरे जिले में विशेषज्ञों को भेजकर कृषि सुधार जैसे हरी खाद, खेतों की मेढ़ें बनाना, बायोमास प्रबन्ध, चारा–घास उगाना, अरण्डी और अन्य फसलों के अवशेष खाद बनाने के काम में लिये जा सकते हैं ? यह भी जानना जरूरी है कि क्या निरोगी फसलों को भारत में लाकर किसानों को बोनी के लिए देना चाहिए ? बीजों का चुनाव, नए औजारों पर शोध, गोमूत्र का संरक्षण आदि पर क्या काम हुआ हैं। बाढ़ आयोग ने तो 140 साल पूर्व भारत सरकार को सलाह दी थी कि हर प्रान्त में कृषि समस्याओं की प्राथमिकताओं के तौर पर जांच कराई जाए।

इसी काम के लिए 1890 में यूरोप से एक विशेषज्ञ को लाकर पुणे और बड़ौदा महाविद्यालयों में निरीक्षक के पद पर बिठाया गया था।

दरअसल जॉन वोलकेयर जब भारत में आए उस समय मेकाले का जादू भारत पर चढ़ चुका था। मदरसा और संस्कृत पाठशालाओं पर पाबन्दी लग चुकी थी। संस्कृत के माध्यम से खेती का पुराना ज्ञान क्या है यह सीखने की कोई गुंजाइश नहीं थी। अंग्रेजी के साथ अंग्रेजों का बोलबाला प्रारंभ हो चुका था।

यह तय किया गया कि कृषि विभाग के निदेशक को भारतीय खेती के साथ–साथ वनस्पति शास्त्र, रसायन शास्त्र और गणित का ज्ञान भी जरूरी है।

तथ्यों का ज्ञान और उनका व्यावहारिक उपयोग विज्ञान की प्रमुख मांग है। अंग्रेजों के कारण भारत में पहली बार विज्ञान पढ़ना प्रारम्भ हुआ है, ऐसा जॉन आगस्टिन वोलकेयर का मानना था क्योंकि उन्हें संस्कृत भाषा का कोई ज्ञान नहीं था। पौधे वातावरण से नत्रजन लेकर पौधों को देते हैं, यह वैज्ञानिक खोज हो चुकी थी और यह काम जीवांश करते हैं यह भी पता चल गया था।

जॉन आगस्टिन वोलकेयर का यह मानना था कि कृषि विभाग के संचालन को कृषि का तकनीकी ज्ञान होना जरूरी है। केवल प्रशासनिक अधिकारी वहाँ रखने से काम नहीं चलेगा। और न तकनीकी संचालक को कार्यालयीन कार्यों से बांधा जाए।

1883 से 1890 के बीच में यह महसूस किया जाने लगा कि वनस्पति शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, मौसम शास्त्र, यांत्रिकी शास्त्र और रसायन शास्त्र की पढ़ाई कृषि शिक्षा में जरूरी है। क्योंकि अधिक काश्त का भूमि की रचना और बनावट पर क्या असर पड़ेगा, अलग/अलग प्रान्तों में मिट्टी के प्रकार कैसे हैं, सिंचाई का भूमि पर क्या विपरीत असर होता है, वर्षा से कितना नत्रजन आता है, दलहनी और तिलनी फसलों की जड़ों में मौजूद ग्रंथियों से कितना नत्रजन जमीन को मिलेगा आदि की सिलसिलेवार पढ़ाई जरूरी है। हर प्रान्त में एक कृषि रसायन शास्त्री होना चाहिए। वह यह भी बताए कि ऊसर भूमि के क्या कारण हैं तथा उनमें सुधार कैसे लाया जाए।

जॉन वोलकेयर ने ही सिफारिश की थी कि भारत की पहली कृषि रसायन प्रयोगशाला मध्य प्रान्त के जबलपुर शहर में हो क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से वह स्थान भारत के केन्द्र में आता है। यहाँ पूरे भारत

से कई लड़के पढ़ने आ सकते हैं।

वनशास्त्र के लिए देहरादून में जो स्कूल है प्रयोगशाला भी है और वहाँ विद्यार्थियों को वनोपयोगी की चीजें पढ़ाई जा सकती हैं। उसी तरह पुणे स्थित साइंस कॉलेज में कृषि की पढ़ाई प्रारम्भ की जा सकती है। विशेषकर कृषि रसायन शास्त्र की पढ़ाई प्रारम्भ की जा सकती है। दक्षिण के विद्यार्थी पुणे और उत्तर से देहरादून जा सकेंगे।

एक कृषि सलाहकार की नियुक्ति की सिफारिश भी की गई। उसे दो से ढ़ाई हजार रुपये प्रति माह तनख्वाह देना भी तय हुआ था और उसके अधीन अधिकारी को साढ़े बारह सौ से डेढ़ हजार रूपये प्रति माह। सलाहकार भारत का न हो बल्कि इंग्लैण्ड या जर्मनी का। इसके अलावा एक वनस्पति शास्त्री, कीट शास्त्री तथा एक कृषि यंत्री भी होना चाहिए। जॉन वोलकेयर का मानना था कि यदि यहाँ पहले से ही कोई वनस्पति शास्त्री होता तो कपास की संकर जाति विकसित करने में दिक्कत नहीं आती। इसी प्रकार चीन से चाय के पौधे भी लाए जा सकते थे।

इंग्लैण्ड से बुलाए गए डॉ. लिंगार्ड द्वारा जीवाणु शोध केन्द्र 1890 में पुणे में स्थापित हुआ।

वोलकेयर का मानना था कि इंग्लैण्ड से भारत में जितने भी वैज्ञानिक आए उन्होंने शोधकार्य करने के बजाए स्कूलों और कॉलेजों में नौकरियाँ कर लीं या फिर खाद्य मिलावट नियत्रण केन्द्रों में नौकरियाँ कर ली क्योंकि वहाँ अच्छा पैसा मिलता था।

घ. भारत के कृषि प्रयोग प्रक्षेत्र

बिना किसी शासकीय मदद के ईमानदारी और लगन से कृषि प्रयोग करने वाले कई वैज्ञानिक, जान वोलकेयर से मिले। उन्होनें शिवपुर (बंगाल) कानपुर, नागपुर, मडगांव आदि क्षेत्रों में काम कर रहे वैज्ञानिकों की जमकर तारीफ की। उन्होंने सिफारिश की थी कि प्रयोग प्रक्षेत्र शहरों के नजदीक हों, प्रक्षेत्र 25 एकड़ से बड़ा नहीं होना चाहिए, प्रयोग ऐसे किए जाएं, जो किसान के व्यावहारिक फायदे में हो। भेड़ों की ऊन के कचरे से बनी खाद पर किए जा रहे प्रयोगों के वे खिलाफ थे क्योंकि वह आसानी से नहीं मिलती इसलिए उस पर अनुसंधान करना बेमतलब हैं। उन्होंने ऐसे अनुसंधान भी रुकवाए जिनमें औजार और खाद अत्यंत महंगे खरीदे गए थे क्योंकि वे प्रयोग साधारण किसान की आर्थिक क्षमता के बाहर के थे। प्रयोग सीधे सच्चे हों, जो साफ बात सामने रख सकें ऐसा उनका विचार था। उनके अनुसार प्रयोगों में लागत खर्चे का हिसाब–किताब जरूरी माना जाता था। प्लाट में लगाए गए लेबल्स में भी जमा–खर्च लिखा जाना चाहिए। उन्होंने कानपुर, सहारनपुर और नागपुर प्रक्षेत्रों का सघन दौरा किया और वे प्रभावित हुए। सन् 1847 से कानपुर प्रक्षेत्र पर काम कर रहे मीर मोहम्मद हुसैन, नागपुर में काम कर रहे महालक्ष्मीवाला भड़गाँव (खानदेश) में काम कर रहे मैनेजर श्री मेहता, पुणे प्रक्षेत्र के श्री ओझा और बड़ोदा फार्म पर काम कर रहे श्री जाधव के कार्यों की उन्होंने भूरी–भूरी प्रशंसा की। हालाँकि उन्होंने बड़ौदा महाराजा द्वारा इंग्लैण्ड से आयात किए गए महंगे कृषि औजारों और गाड़ियों की आलोचना की और कहा कि ये फिजूलखर्ची के काम हैं। उन्होंने गणेशखिण्ड पुणे और सांईदास पेठ, चेन्नई के बर्दवान उमराव (बंगाल) व शिवपुर (बंगाल) में काम कर रहे श्री सेन के कार्यो की सराहना की। श्री सेन द्वारा बनाए गए हल को भी उन्होंने देखी और वे प्रभावित हुए।

च. कृषि शिक्षा

अक्टूबर 1890 में शिमला में सम्पन्न कृषि परिषद् में यह तय किया गया कि भारत में कृषि शिक्षा प्रारम्भ की जाए। उन दिनों भारत में शिक्षा का महत्व कला और साहित्य सृजन में अधिक था। 1881 की जनगणना के अनुसार भारत की 72 प्रतिशत जनसंख्या (पुरुष) कृषि से जुड़ी थी मगर अधिकतर स्नातक पैदा कर बाबुओं की फौज बढ़ाने में ही शासन की और समाज की रुचि थी। जिस खेत की कीमत एक लाख रूपये थी उन पर काम करने वाले बाबुओं की तनख्वाह 25 रू. प्रति माह से ज्यादा नहीं थी। सरकारी बाबू 50 रू. माहवार पगार पाते थे। मदुरै के एक धनवान बाप का कथन था कि सबसे होनहार बालक वकील बनता है और सबसे निकम्मा खेती या व्यापार करता है। उसके बाद वाला बाबू बनता है। 1891 में यह धारणा पक्की हुई कि भारत में कृषि शिक्षा प्रारम्भ की जानी चाहिए। यहाँ प्राथमिक शिक्षा भी खेती की होनी चाहिए। भारत में कृषि को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाना चाहिए। मगर सवाल यह था कि यह शिक्षा दे कौन और उसे ग्रहण करेगा कौन ? 1890 में कृषि आयोग ने रिपोर्ट दी कि चूंकि सांईदास पेठ मद्रास से निकले स्नातक होनहार नहीं थे अतः यहाँ शिक्षा का कोई महत्व नहीं हैं। इसके बावजूद पुणे के विज्ञान महाविद्यालय में कृषि विषय था जबकि मुंबई विश्वविद्यालय ने कृषि में डिप्लोमा प्रारम्भ किया। पुणे के कृषि शिक्षक डॉ. थियोडोर ज़मीन से जुड़े शिक्षक थे। जॉन वोलकेयर ने सुझाव दिया था कि भारत के किसानों को तकाबी बाँटने का काम तहसीलदारों का होता है। क्यों न उन्हीं को कृषि शिक्षा दी जाए ? यह भी सुझाव दिया गया कि कृषि महाविद्यालयों के पास प्रदर्शन प्रक्षेत्र होना जरूरी हैं क्योंकि वहीं से विद्यार्थियों को देखने और सीखने का अनुभव प्राप्त होगा।

सन् 1888–90 में नागपुर से 14 छात्र कृषि विषय लेकर हाईस्कूल पास हुए और सभी के सभी शायद रेवेन्यू डिपार्टमेण्ट में लग गए। यही स्थिति बेलगांव और नाड़ियाद में थी। सर जॉन वोलकेयर का यह कहना था कि बच्चों को प्राथमिक स्कूल से ही ड्राईंग और कृषि विषय पढ़ाया जाना चाहिए।

नार्थ वेस्ट प्राविंस में लिखी गई "एग्रीकल्चरल प्रायमर" शायद कृषि की पहली किताब थी। इस किताब का हिन्दी, उड़िया और मराठी भाषा में अनुवाद हो चुका है। इसके अलावा मद्रास के सी. बेंसन और सी. सुब्बाराव ने भी कृषि पाठ्यक्रम के लिए पुस्तकें लिखी थीं।

वैसे तो इंग्लैण्ड और भारत की कृषि पद्धतियाँ अलग होने से वहाँ की श्री वैरिंग्टन द्वारा लिखित पुस्तक "केमिस्ट्री ऑफ फार्म्स" और राईटसन की "प्रिन्सिपल ऑफ एग्रीकल्चरल प्रेक्टिस" यहाँ लागू नहीं हो सकी।

पुणे महाविद्यालय में पूरे साल में दो माह कृषि पढ़ाई की जाती थी जिनमें वनस्पतिशास्त्र, ताप और कृषि होता था। अगले वर्ष उच्च गणित, रसायन और प्राकृतिक विज्ञान विषय प्रारम्भ हुए साथ ही पशु और कृषि विज्ञान भी।

बड़ौदा महाराज गायकवाड़ ने कृषि पाठ्यक्रम का अच्छा प्रचार किया, जिसका अच्छा परिणाम हुआ। बेलगांव में कृषि शिक्षा के लिए नगर पालिका 2400 रू. प्रति साल अनुदान देती थी। मद्रास के सांईदास पेट कृषि महाविद्यालय में कृषि के अलावा कई विषय पढ़ाए जाते थे जैसे उच्च गणित, गर्भविज्ञान, स्थिति विज्ञान (स्टैटिक) गृह निर्माण, वन विज्ञान आदि। मध्य प्रान्त में कहीं भी कृषि विज्ञान महाविद्यालय उन दिनों नहीं थे। नागपुर में अलबत्ता 38 विद्यार्थी थे उनमें से 10 होस्टल में रहते थे। अधिकांश विद्यार्थी ब्राह्मण

वर्ग के थे। कॉलेज का क्षेत्रफल 20 एकड़ में फैला था। विद्यार्थी वहाँ शारीरिक कसरत भी करते थे। यहाँ वनस्पति शास्त्र, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, चित्रकला, प्राणी शास्त्र, पशु वैद्यकीय और भूमि सर्वेक्षण पढ़ाया जाता था।

बंगाल में विद्यार्थियों को कृषि विज्ञान के लिए इंग्लैण्ड भेजा जाता था। लाहौर में एक पशु वैद्यकीय महाविद्यालय था, पूरे उत्तर भारत में कहीं भी नहीं था।

देहरादून के वन विद्यालय में उन दिनों 70 विद्यार्थी पढ़ते थे। उनका सालाना खर्च 3300 रू. होता था। उस महाविद्यालय से निकले विद्यार्थी वन विभाग में रेंजर की नौकरी पाते थे।

छ. कृषि विभाग की स्थापना

उन दिनों भारतीय प्रशासनिक सेवा में कृषि का ज्ञान जरूरी था। कृषि शिक्षा में प्राकृतिक और भौतिक विज्ञान पर जोर था। इसके अलावा भारतीय प्रशासनिक सेवा की पढ़ाई में इण्टरमिजिएट और अन्तिम वर्ष तक कार्बनिक रसायन और कृषि रसायन पढ़ाया जाता था। जो प्रशिक्षार्थी इनमें सफल होते थे उन्हें एक वर्ष के लिए इंग्लैण्ड पढ़ाई के लिए भेजा जाता था और इस दौरान उन्हें दो तिहाई तनख्वाह भी मिलती थी। जॉन वोलकेयर के अनुसार यह गलत सिफारिश थी। उनका मानना था कि इंग्लैण्ड में कृषि पढ़ा हुआ प्रशासनिक अधिकारी भारत में कृषि में क्या काम कर पाएगा क्योंकि दोनो देशों की कृषि पद्धतियाँ अलग अलग हैं। इसकी अपेक्षा संचालक कृषि को स्थानीय कृषि पद्धति का ज्ञान होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए :–

1) जिले का लेखा–जोखा देखना और उसे संगठित करना।
2) अकाल ग्रसित जिलों का विश्लेषण और संचालन।
3) ऐसे क्षेत्रों से लगान वसूल करने के उपाय।
4) अकाल दूर करने के उपाय खोजना।
5) कृषि प्रक्षेत्रों पर सफल प्रदर्शन आयोजित करना।
6) पशुधन प्रजनन और नस्ल सुधार के नए तरीके ईजाद करना।
7) कृषि और घाटे का सांख्यिकीकरण।
8) व्यापार और सांख्यिकीय।
9) अजायबघर।
10) सामान्य प्रशासन।

कृषि विभाग को कृषि प्रदर्शनियों के मकसद के बारे में पूरा ज्ञान होना जरूरी था ताकि वे केवल दिखावे की चीज न रह जाए जो अक्सर होती हैं।

खेती में बड़ी–बड़ी बातें करने की बजाए छोटे जोतों और जोतकारों के विकास पर कार्य करना जरूरी था। जैसे बड़े बड़े कृषि औजार, कपास का संकरीकरण, कपास की धुनाई और गांठें बनाने के कल कारखानों की बजाए छोटे किसानों की कर्ज व्यवस्था क्या हो, भूमि सुधार कैसे लागू किया जाए, उसके लिए पूंजी निवेश कहाँ से प्राप्त हो आदि पर कृषि विभाग को ध्यान देना चाहिए। सहारनपुर में आयोजित कृषि प्रदर्शनी में देखा गया कि स्थानीय किसानों का योगदान बिल्कुल ही नहीं था, जबकि मेरठ के नौचन्दी

मेले में स्थानीय सहभाग भरपूर था। वहाँ ग्रामीण उद्योगों पर जोर दिया गया था। यही बात मद्रास में भी देखने को मिली। कृषि विभाग को ऐसी प्रर्दशनियों में सफलता तभी मिल सकती है जब वे पहले से ही तैयारी करें। तारीख पहले तय करें।

मुंबई प्रान्त में सालभर में 6 कृषि प्रदर्शनियाँ लगती थीं, जिनका वार्षिक खर्च 8 हजार रू. कृषि विभाग देता था। पुणे, अहमदाबाद और सिंध में घोड़ों का श्रेष्ठ प्रदर्शन हुआ करता था, जबकि उत्तर में मेरठ, अलीगढ़, सहारनपुर और अवध में अच्छा पशु मेला लगता था। बंगाल प्रान्त में पांच स्थानों पर मेले आयोजित किये जाते थे।

जॉन वोलकेयर का मानना था कि तकाबी बांटने का काम कृषि विभाग को दिया जाना चाहिए क्योंकि कुए कहाँ खुदवाना हैं, बीज, चारा और ऊर्जा के क्या विकल्प हैं, इसका ज्ञान कृषि संचालक को ज्यादा रहता हैं।

जॉन वोलकेयर ने भारत शासन से सिफारिश की थी कि प्राकृतिक विज्ञान का कृषि संचालक को ज्ञान होना निहायत जरूरी हैं। कृषि संचालक को प्रशासनिक अधिकार दिये जाएं और कृषि विकास के लिए धन मुहैय्या कराया जाए।

ज. आज की खेती की विशेषताएँ और बदलाव

1) अंग्रेजी शासन के पूर्व भारत में कभी अकाल नहीं पड़ा क्योंकि भारत में अन्न उत्पादन को ज्यादा महत्व दिया जाता था। सन् 970 से 1200 के बीच हमारी धान की उपज 12–18 टन प्रति हेक्टेयर थी। दक्षिण अर्काट में 14.5 टन प्रति हेक्टेयर रेकार्ड किया हुआ था। रामनाथपुरम में जहाँ अधिक सूखा पड़ता था वहाँ सन् 1325 में 20 टन प्रति हेक्टेयर अनाज पैदा होने के सबूत मिले हैं। उसी प्रकार यूरोप के निरीक्षकों ने भारत के कई प्रान्तों में अधिक पैदावार होना मंजूर किया है। सन् 1803 में इलाहाबाद में साढ़े सात टन और 1807 में कोयम्बतूर में 14 टन धान प्रति हेक्टेयर पैदा होना दर्शाया गया हैं। उन दिनों चार–पांच सदस्यों वाले परिवार को साढ़े पाँच टन अनाज प्रतिवर्ष मिलता था जो पर्याप्त था।

   अंग्रेज आते ही दृश्य बदल गया। उन्होंने नकदी फसलों पर दिए जोर के कारण अनाज की पैदावार कम होने लगी।

   आँकड़े बताते हैं कि अंग्रेजी शासन से पहले सभी वर्ग के लोगों के लिए सभी चीजें उपलब्ध थीं। जैसे पान, गुड़, घी, तम्बाकू, हल्दी, सुपारी। सभी प्रकार के तेल, मिर्च, नमक, मसालें, दवाईयाँ, कम्बल आदि। (संदर्भ : बेलारी केडेट जिला कलेक्टर का शासन को पत्र क्र. 12.3 पी. पी 9031–47 18.06.1946)। हमारे यहाँ जो अनाज गरीबों को जाता था उसे रोका जाने लगा और उसमें लगने वाला पैसा यूरोप की जनता के मनोरंजन पर खर्च होने लगा (सन्दर्भ : विलियम बैट्रीक 1929)। भारत में चांवल की 30 प्रजातियाँ थीं जो शनैःशनै लुप्त हो गईं। अंग्रजों ने देखा कि चूंकि नकदी फसलों से धन मिलता है इसलिए अंग्रेज पूंजीपतियों से कहा गया कि भारत में नकदी फसलों के उत्पादन के लिये पूंजी निवेश करो और पैसा कमाओ। उन दिनों फसलों के भाव इस प्रकार थे :–

सन . . . . .3 से 7 रु. प्रति एकड़

कपास . . . . 6 से 9 रु. प्रति एकड़

शक्कर . . . . 9 से 15 रु. प्रति एकड़

नील . . . . 4.5 से 6 रु. प्रति एकड़

2) मद्रास रेवेन्यू बोर्ड ने रिपोर्ट दी थी कि कम वर्षा के होते हुए भी भारत 3 करोड़ जनसंख्या को भरपेट भोजन दे सकता हैं तथा धान, कपास, शक्कर, नील और तिलहन में भारत के पास अतिरिक्त माल उपलब्ध रहता हैं।

3) सन् 1880 के आसपास हमारे यहाँ किसान सल्फेट और अमोनिया का उपयोग खेतों में करने लगे।

4) भारत से पहला कपास का जहाज सन् 1783 में इंग्लैण्ड पहुँचा। यानी कुल 114133 पौण्ड। सन् 1846 से 30 सालों तक कपास की वार्षिक खपत 6 प्रतिशत तक बढ़ती रही।

5) भारत में मुगल शासन के दौरान किसानों की आर्थिक हालत इतनी अच्छी नहीं थी कि वह खेती में सुधार के लिए धन जुटा सके। स्थानीय राजा विलासिता में इतने डूबे हुए थे कि उन्होंने किसानों को शिक्षा नही दी, कृषि सुधार के गुर नहीं सिखाए।

6) भारत की किसी भी नगर पालिका ने शहरी मल को खेती में नहीं पहुँचाया लिहाजा शहरों की गंदगी बढ़ी और खेत पोषक तत्वों से वंचित रहे। उदाहरण के लिए मद्रास के बूचड़खाने से सन् 1871–72 में निकला कचरा 44 हजार एकड़ भूमि को नत्रजन दे सकता था। सन् 1889 में मद्रास सांईदास पेट कृषि महाविद्यालय द्वारा किए गए प्रयोग से सिद्ध किया गया था कि यदि 36 पौंड हड्डी का चूरा एक एकड़ खेत में डाला जाए तो लागत आती हैं 1 रुपया और 45 पौंड ज्वार और 420 पौंड भूसा मिलता हैं।

7) सन् 1884–85 में 15 हजार टन हरी खाद निर्यात हुई थी। 1888–1889 में 35 हजार टन और 17.5 लाख रु. शासन को मिले।

8) राजस्थान में पशुपालन वैज्ञानिक ढंग से होता था। पशुओं के लिए चारागाह बनाए जाते थे जिनमें पशुओं के लिए स्वास्थ्यवर्धक फसलें जैसे उड़द, धान, सेम, चुरी, मूंग, गेहूँ, मैथी, दलिया, ज्वार–मक्का की कड़बी, जौ और गेहूँ का भूसा सरसों और मूंगफली की खली, ग्वार की चूरी, कपास्या दिया जाता था । पशुओं को ठंडा रखने के लिए गुड़, खोपरा और घी दिया जाता था। दूध बढ़ाने के लिए कपास्या और खोपरे की खली दी जाती थी। दूध देती गायों के लिए महुआ के फूल सीसम और बिच्छुघास दी जाती थी। दक्षिण में इमली के पेड़ की पत्तियाँ दी जाती थीं क्योंकि हरा चारा कम होता था।

9) उड़ीसा में बोनी से पहले अक्षय तृतीया पर चांवल त्योहार मनाया जाता था। आंध्र में इसवाकु, छोटा नागपुर का दामूराई उत्सव, अरुणाचल प्रदेश का मौपिन, आसाम का मघा बिंहु, बंगाल का पाउस उत्सव, कनार्टक का उत्तारी। उडीसा में चांवल में जब दाने पड़ते थे तब कार्तिक मास में गर्भ संक्रात मनाई जाती थी। अक्षय तृतीया को जगन्नाथ की रथ यात्रा निकलती थी जो आज भी निकलती है।

10) आसाम में वर्षा के पूर्व अनुमान इस प्रकार हैं :–

अ) यदि आम पर भरपूर बौर आया हो तो उस साल बाढ़ आने की पूरी संभावना होती है।

ब) यदि कटहल पर अच्छी बहार हो तो चांवल की अच्छी उपज मिलती है।

स) बारिश के पहले उत्तर में यदि बिजली चमकती है तो यह अकाल का सूचक है। दक्षिण में हो तो और बुरा, पूरब में चमके तो पान की बढ़िया खेती होगी। और पश्चिम में चमके तो बाढ़ की सूचक है। यदि माघ (जनवरी) में सूरज की रोशनी अच्छी हो तो चार माह तक कम वर्षा होगी। और माह के अन्तिम सप्ताह में यदि वर्षा आई तो अकाल के लक्षण है।

11) यदि घुटना–घुटना पानी खेत में हो तो धान दूर–दूर लगाना चाहिए। अश्विन–कार्तिक (अक्टूबर, नवम्बर) तक खेत में पानी भरा होना चाहिए। भादव के आखिरी चार दिन और अश्विन के पहले चार दिन आसाम में दालों की बोनी के लिए श्रेष्ठ माने जाते हैं। सुपारी सात हाथ दूर–दूर लगाना चाहिए। सुपारी के वृक्ष पर पान और काली मिर्च के बेल अच्छे होते हैं।

12) किसान को यदि कर्ज में रहना हो तो कपास के बाद कपास लगाएं और मुक्ति चाहते हो तो चने के बाद तिल की खेती करना चाहिए।

13) भारत में अंग्रेजों की हुकूमत के समय जब रेलें बिछने लगी तो लकड़ी के लिए जंगल कटे, किसानों को लकड़ी का उपयोग नहीं करने दिया गया । धान के खेतों में जूट और नील जैसी नकद फसल ली गई। भारतीय धान इंग्लैण्ड में शराब बनाने के काम आने लगी।

14) आधुनिक खेती के पूर्व किसान स्वयं बीज पैदा करता था और उसे सुरक्षित रखता था। मौसम में अनुकूल बीजों का व फसलों का चयन करता था। बीजों का आपस में लेन–देन करता था। जैव विविधता का इससे और कोई दूसरा श्रेष्ठ उदाहरण नहीं हो सकता।

15) सन् 1906 में ई. आई. डी. पैरी कंपनी ने पहला सिंगल सुपर फॉस्फेट खाद का कारखाना रानीपेट में प्रारम्भ किया। तत्पश्चात सन् 1941 में मैसूर केमिकल्स एंड फर्टिलाइजर्स ने बेलागोला में अमोनियम सल्फेट का कारखाना प्रारम्भ किया । फर्टिलाइजर्स और केमिकल त्रावनकोर ने 1947 में भारतीय रसायन उद्योग प्रारम्भ किया। 1953 में अकाल के बाद सिंदरी का कारखाना प्रारम्भ हुआ। 1955 में फर्टिलाईजर्स एसोसिएशन ऑफ इंडिया भारत में शुरू हुआ। 1959 में फर्टिलाईजर्स कारपोरेशन ऑफ इंडिया प्रारंभ हुआ। तालचेर, रामा गुण्डम और कोरबा में नत्रजन के कारखाने प्रारम्भ हुए। आज भारत संसार का चौथा सबसे बड़ा रासायनिक खाद बनाने वाला देश है।

16) हरित क्रान्ति की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही कि इसमें केवल आर्थिक पहलू ही देखा गया – पर्यावरण और पारिस्थितिकीय (Ecology) नहीं।

17) जब औद्योगिक वातावरण बढ़ा तो यह माना जाने लगा कि आधुनिक खेती के लिए गाँवों से माल शहर में आए ताकि उद्योगों से जुड़े शहरी लोग उसे खरीद सके अर्थात शहरी मांग के अनुसार अनाज बाजार में आए। मगर शहर में अनाज बढ़ा नहीं क्योंकि व्यापारियों ने उसे रोकना प्रारम्भ कर दिया। फिर अनाज का आयात प्रारम्भ हुआ फिर भी हालात नहीं सुधरें।

18) द्वितीय पंचवर्षीय योजना में आय. ए. डी. पी. 'इंसेन्टिव एग्रीकल्चरल डेवलपमेन्ट प्रोजेक्ट' योजना प्रारम्भ हुई। उसका उद्देश्य गाँवों में नहीं बल्कि उद्योगों में रौनक लाना था। सन् 1964 में मिरेकल बीज के नाम से बौनी किस्म के मेक्सिकन गेहूं के बीज भारत में आए। चूंकि उस बीज का संयोजन प्राकृतिक नहीं था। लिहाजा रासायनिक खाद खेतों में डालना अनिवार्य हो गया। उसके लिए सिंचाई की भी जरूरत पड़ी। पौधों पर पत्तियों का आकार अर्थात क्षेत्रफल बढ़ा तो कीड़ों का आक्रमण प्रारम्भ हुआ।

मजे की बात यह है कि भारतीय शासन के केन्द्रीय उच्च स्तरीय केबिनेट मंत्री मण्डल की मंजूरी के बिना देश में हरित क्रान्ति शुरू हुई।

19) जहाँ मेक्सिकन गेहूँ के बीज पहुंचे और जहाँ परिस्थितियाँ अनुकूल थी वहीं उत्पादन बढ़ा। हरित क्रान्ति के बाद भारत का कुल फसल उत्पादन घटा।

20) हायड्रोजन और नाईट्रोजन को मिलाकर अमोनिया बनता है। इससे नाईट्रिक एसिड बनता है। पहले महायुद्ध के वक्त जर्मनी ने इसे बनाया ताकि वह चिली से आयातित अमोनिया सल्फेट रूकवा सके। युद्ध के बाद से अमोनिया खेतों में डाला जाने लगा। चूंकि जर्मनी में ठण्ड अधिक होती हैं इसलिए उसके दुष्परिणाम दिखे नहीं मगर भारत में इससे सभी प्रभावित हुए। केवल महात्मा गांधी ने तभी रासायनिक खादों का विरोध किया था। परंतु हमारे नेताओं ने विदेशी प्रभाव के कारण रासायनिक खाद हमारे देश पर थोपे। हमारे और विदेशों के मौसम में भिन्नता है। हमारे यहाँ गरमी में भूमि तड़कती है उसके बाद बारिश होती है और मिट्टी धुलकर बह जाती है। विदेशों में ऐसा नहीं होता।

21) हमारे यहाँ भूमि में खरबों जीवाणु रहते हैं, जो रासायनिक खाद भूमि में दिये जाने पर समाप्त हो जाते हैं।

22) आपसी झगड़ों के कारण हमारे कृषि वैज्ञानिकों ने बगैर मिट्टी परीक्षण के भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए, जैविक खादों के बजाए रासायनिक खादों के उपयोग की सिफारिश की ।

23) और अन्त में हमारे योजनाकार इन प्रश्नों के उत्तर दें :

अ) 15–20 वर्ष पूर्व पंजाब की भूमि में जैविक तत्व कितने थे और अब कितने हैं?

ब) पंजाब की मिट्टी की जल धारण क्षमता 20 वर्ष पूर्व कितनी थी और अब कितनी हैं ?

स) वहाँ की भूमि में प्रमुख और सूक्ष्म पोषक तत्व पहले कितने थे, और अब कितने हैं ?

द) तब और अब की जैविक गतिविधियाँ कैसी थीं ?

क) तब पोखरों में नाइर्टेट कितना था, और अब कितना हैं ?

झ. संकर किस्में

बीते हुए कल की खेती में हमने प्राचीन खेती को देखा और पाया कि भारत की पारम्परिक खेती कितनी सुलझी हुई और वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित थी। हालांकि उस समय भी हमारी पारम्परिक खेती में कुछ दोष थे, पिछली जातियों को आगे आने का मौका ही नहीं मिला, घने जंगल होने से जंगली जानवरों के मांस और रक्त को पौधों के विकास के लिए काम में लाया जाता था जो अब सम्भव नहीं है।

फ़िर आज की खेती में हमने मुगल कालीन और अंग्रेजी हुकूमत के समय की जा रही खेती का विश्लेषण किया। इन पाँच–छः सौ सालों में हमारी खेती कई आपदाओं से गुजरी। एक तो विदेशी हुकूमतों के कारण भारतीय जनता पर जो अत्याचार हुए उनकी गूंज खेतों और खलिहानों में भी पहुंची। किसानों पर आए दिन जुल्म ढाए गए और उनका आर्थिक शोषण हुआ। अंग्रेजों ने हमें हमारी परम्परा से वंचित रखने के लिए पाठशालाओं से संस्कृत पुस्तकें हटा लीं। अंग्रेजी हुकूमत के वक्त यह माना जाने लगा कि जो पश्चिम कहता है वही सही है। हमारी बसाहट, हमारा विकास, हमारी भाषा, हमारी विद्या आदि वही होगी जो पश्चिम की सभ्यता तय करेगी। हमारी खेती में भी यह माना गया कि पश्चिमी खेती जो बीज, खाद, दवाई आदि हमारे खेतों में भेजेगी हमारी भूखमरी उसी से दूर होगी। इसी दौरान पश्चिम देशों के देखा देखी हमारी फसलों पर संकरीकरण का अनुसंधान प्रारम्भ हुआ। जो फसलें पांच या दस क्विंटल उत्पादन प्रति एकड़ देती थी उन्हीं की संकर और सुधारित किस्में चालीस और पचास क्विंटल उत्पादन प्रति एकड़ देने लगीं – कम से कम ऐसे आभास निर्मित किए गए।

पहले तो केवल दो तीन–अनाज की फसलों के संकर बीज तैयार किये जाते थे, अब तो सब्जियों के संकर बीज भी बाजारों में आ गए हैं। इन पर चर्चा करना दिलचस्प होगा।

दो विभिन्न अनुवांशिक गुणों के नर और मादा में संकरण से प्राप्त बीजों को संकर बीज कहते हैं। साधारणतया पौधों पर लगने वाले हर फूल पर नर और मादा अंग रहते हैं केवल कुछ ही किस्म के पौधे, जैसे मक्का, खजूर, पपीता और कद्दू वर्गीय फसलों में नर और मादा फूल अलग अलग होते हैं।

ईसा के 700 वर्षों पूर्व (बी.सी.) बेबिलोनिया पूर्वी मिस्त्र में स्थित पिरामिड के भित्ति चित्रों में दिखाया गया है कि खजूर के पेड़ पर स्त्री, नर फूलों को मादा फूलों पर बरसा रही हैं। प्रकृति में हवा के झोकों के कारण या मधुमक्खियाँ और तितलियों के कारण परागीकरण का एक नैसर्गिक प्रक्रिया हैं। परंतु अधिक पैदावार के लिए दो अनुवांशिक गुणों में भिन्न नर और मादा का संकरण वैज्ञानिकों ने किया है। केमेरेरियस नामक वैज्ञानिक ने सन् 1414 में वनस्पतियों में लिंग की खोज की। फेप्पर नामक वैज्ञानिक ने भी 1880 के आसपास गेहूँ पर प्रजनन का कार्य प्रारम्भ किया था। सन् 1864 में आस्ट्रीया के एक पादरी ग्रेगर मेंडल ने अपने आहाते में लगे मटर (बटले) के पौधों पर अनुवांशिकी की खोज की और फसलों में अनुवांशिकी के सिद्धांत लागू किए। मेण्डल का सिद्धांत था कि भिन्न–भिन्न किस्म के नर और मादा का संयोग करने पर आने वाली पीढ़ी में जो अनुवांशिकी गुण प्रगट होते हैं वे प्रबल हो सकते हैं या निर्बल। मेण्डल द्वारा खोजे गए इसी सिद्धांत के कारण संकर ओज की शुरुआत हुई। यह संकर ओज पहली पीढ़ी तक तो कायम रहता है मगर अगली पीढ़ी में नर और मादा के गुण 3:1 अनुपात में विभाजित होते हैं। यदि पौधे दो विभिन्न प्रजातियों के हो तो यही अनुपात 9:3:3:1 के अनुपात में अधिक गुणों का विभाजन करेगा। मेण्डल के इस सिद्धान्त से पौध प्रजनकों का काम आसान हो गया और उसके बाद कई वैज्ञानिकों ने विभिन्न फसलों के

वर्ण संकर निकाले। मार्गन डिफ्राइव जान्सन आदि वैज्ञानिकों ने वर्ण संकर किस्मों में उल्लेखनीय काम किया है। इतना कि वर्ण संकर फसलों से अमेरिका की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो गई। सन् 1944–45 के आसपास पूसा कृषि अनुसंधान संस्थान में डॉ. हरभजन सिंह ने संकर टमाटर का बीज निकाला। पंजाब और गुजरात में क्रमशः मक्का और बाजरा के वर्ण संकर निकले। मक्का की गंगा–2, और 5 किस्म तथा बाजरे की एच. बी. 1, एच. बी. 2 और एच. बी. 3 अधिक प्रचलित हुई। सब्जियों में उन वर्षो में तोरई, गिलकी और बैंगन के भी वर्ण संकर निकले। रूस में भी इन वर्ण संकरों पर काम हुआ। अमेरिका की कार्गिल कम्पनी को तो स्थानीय किस्मों के मुकाबले संकर किस्मों की फसलों का उत्पादन 10 प्रतिशत से ज्यादा नहीं मिला। नोबल पुरस्कार विजेता डॉ. नार्मन बोरलॉग ने कनाड़ा में गेंहूँ पर चयन द्वारा अधिक उत्पादन देने वाली गेहूँ की बोनी जातियाँ खोजी। उन्होंने आगे चलकर मेक्सिकन जाति की कई गेहूँ की जातियाँ विकसित कीं। हैदराबाद, ज्वार के संकर बीजों के समन्वय अनुसंधान का केन्द्र था। उसके अन्तर्गत ज्वार उगाने वाले कई राज्यों में कृषि अनुसंधान समन्वय केन्द्र बने। इन केन्द्रों के समन्वय से संकर ज्वार की किस्में निकाली गईं। सी एस. एच. – 1 से लगाकर सी. एस. एच. – 9 किस्में और उसके बाद कई निजी कम्पनियों ने भी ज्वार, मक्का, बाजरा और अन्य अनाज फसलों के संकर निकाले। प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक अलबर्ट हॉवर्ड ने भी गेंहूँ पर चयन कार्य किया और कई जातियाँ विकसित कीं जिनमें एन–4 एनपी–12 प्रसिद्ध थी ये क्रमशः 1904 और 1912 में लोकार्पित हुई थी।

भारत में चांवल पर गहन अनुसंधान हुआ। कटक स्थित भारतीय चाँवल अनुसंधान संस्था ने कई देशी जातियों को खोजकर निकाला और उनमें से अच्छी जातियाँ विकसित कीं मगर चांवल का संकर किस्मों का विकास यहाँ नहीं हो सका। वह काम मनीला (फिलिपाइन्स) स्थित अन्तर्राष्ट्रीय चांवल अनुसंधान संस्था के वैज्ञानिकों ने चीन के वैज्ञानिकों के साथ मिलकर किया और चांवल की कई संकर किस्में विकसित कीं।

वैसे जिन पौधों के फूलों में नर और मादा अंग होते हैं उनमें आपस में संयोग होता ही है मगर यदि उस फूल के मादा अंग को विशेष किस्मों के नर अंग से गर्भित करना हो तो पहले इन फूलों के विकसित होने के पहले ही कली को खोलकर नर अंगों को काट लिया जाता हैं। इसे बधिया (निपुंसीकरण) करना कहते हैं। फिर जब मादा अंग पूर्ण रूप से विकसित हो जाए तब चाहे हुए दूसरे पौधे के फूलों से नर पराग को लाकर मादा अंग से मिलाया जाता हैं इसे परागीकरण कहते हैं। नर अंगों को काटने के बाद मादा अंग को सुरक्षा हेतु उसे कागज के लिफाफों में बंद रखा जाता है और परागण करते समय खोलकर फिर से बन्द कर दिया जाता हैं ताकि प्रजनन निर्बाध हो सके। हमारे यहाँ यह विधि कपास पर 50 और 60 के दशक में अपनाई जाती थी। गुजरात के कृषि वैज्ञानिक श्री चन्द्रकांत पटेल ने विश्व का पहला संकर कपास का बीज एच 4 विकसित किया। गुजरात – 67 जाति के कपास के पौधे के मादा फूलों पर अमेरिकन नेक्टरीलेस जाति के नर फूलों से परागण कर एच'–4 जाति का बीज विकसित हुआ। उसके बाद दक्षिण के डॉ बी. एच. कतारकी ने लक्ष्मी (मादा) और एस. बी. 289 नर कपास फूलों के संयोग से वरलक्ष्मी संकर कपास का बीज विकसित किया। उसी कड़ी में इन्दौर कृषि महाविद्यालय के वैज्ञानिक डॉ. वी. एन. श्रॉफ ने भी खण्डवा–2 मादा और रेबा बी–50 नर फूलों का संकरण करके जे. के. एच. 1 संकर जाति को जन्म दिया। उसके बाद पंजाबराव कृषि विद्यापीठ, अकोला से एच. 6, एच. 44 मराठवाड़ा कृषि विद्यापीठ नांदेड से एन. एच. 44 एच. वाय. 465 कपास की संकर जातियाँ विकसित हुईं। आज विभिन्न कृषि विश्वविद्यालयों तथा निजी कम्पनियों के करीब 100 से ज्यादा कपास की संकर किस्मों के बीज बाजारों में उपलब्ध हैं और

किसानों के यहाँ लगाए जा रहे हैं।

संकरीकरण की इस आँधी में विकसित फसलों की संकर किस्में अधिक उपज देने वाली होकर भी किसानों के बीच उतनी लोकप्रिय नहीं हो पाई जितनी देसी जाति की किस्में। इसके कई कारण हैं। एक तो प्रजननकों की कमी। दूसरे कृषि शिक्षा के अभाव में किसानों तक संकर किस्मों की खेती की सही जानकारी न पहुँचाना। तीसरा धन की कमी।

हमारे और विकसित देशों की खेती में यही मूलभूत फरक है। वहाँ खेती बड़े–बड़े निगमों और कंपनियों के कब्जे में हैं, जिससे वे बड़ी मात्रा में पूंजी निवेश कर खेती लाभदायी बना सकते हैं। वहाँ की सरकारें भी बड़े पैमाने पर किसानों को अनुदान देती है और उनकी उपज के मूल्यों को गिरने नहीं देती।

खेती कल की

15 अगस्त सन् 1947 को भारत आजाद हुआ और उसके तुरन्त बाद देश में रूस की तर्ज पर पंचवर्षीय योजनाएं प्रारंभ हुईं। देश में बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण की नीव रखी गई तथा राऊरकेला, भिलाई जैसे बडे–बड़े कल–कारखाने खड़े किए गए। अमेरिका के लैण्ड ग्रांट कॉलेज की तर्ज पर भारत में कृषि महाविद्यालय और कृषि विश्वविद्यालय बने जिनमें पन्तनगर (उत्तरांचल) स्थित कृषि विश्वविद्यालय सर्वप्रथम है जो 1961 में प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी विज्ञान पर आधारित खेती की पढ़ाई पर जोर दिया गया। परंपरागत भारतीय खेती पिछड़ी अन्धविश्वासी और अवैज्ञानिक करार दी गई। वराहमिहिर, पाराशर, भृगु की जगह अलार्ड, जॉनसन और बिटुमन पढ़ाए जाने लगे। एग्रॉनामी, पैथॉलाजी, एण्टामॉलाजी, एक्सटेंशन, सॉईल केमिस्ट्री, प्लाण्ट ब्रिडिंग जेनेटिक्स जैसे विषय महाविद्यालयों की शान बने। भारतीय प्राध्यापकों को उच्च कृषि शिक्षा प्राप्त करने अमेरिका भेजा जाने लगा। भारतीय विद्यार्थियों को यह सिखाया जाने लगा कि विकास का सूरज पश्चिम में ही उगता हैं।

यदि हम पिछली अर्ध सदी की और मुड़कर देखते हैं तो भारतीय खेती के सन्दर्भ में दो तारीखें बहुत महत्वपूर्ण लगती हैं। एक 15 अगस्त 1947 जब देश आजाद हुआ और किसानों को अपनी मर्जी के मुताबिक फसलें उगाने की आजादी मिली। चम्पारण की तरह नील की खेती के जुल्म खत्म हुए। दूसरी है सन् 1965 की वह तारीख जिस दिन नोबल पुरस्कार प्राप्त कृषि वैज्ञानिक डॉ. नार्मन बोरलॉग मेक्सिकन गेहूं की बौनी किस्म के बीज भारत में लाए और सही मायने में यहाँ हरित क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।

इन दो तारीखों की घटनाओं पर गहराई से मनन करें तो इनमें जबर्दस्त विरोधाभास नजर आता हैं। पहली घटना ने किसानों को जहाँ गुलामी से मुक्त कराया वहीं दूसरी ने उन्हें बाहरी ऊर्जा के जाल में जकड़ना शुरू किया। यह बाहरी ऊर्जा है तथा कथित उन्नत किस्म के संकर बीज, खनिज तेल एवं संश्लेषित तकनीक पर आधारित रासायनिक खाद, पौध रक्षक, रासायनिक कीटनाशक, खरपतवार नाशक और फफूंद नाशक दवाएँ। साथ ही फव्वारा और टपक सिंचन पद्धति, ट्रैक्टर आदि। मतलब यह कि जब तक ये साधन उसे मुहैय्या नहीं कराए जाते तब तक किसान खेती कर ही नहीं सकता। बाहरी ऊर्जा की ये चीजें किसानों तक पहुंचाने के लिए पूरे देश में उत्पादकों, वितरकों और विक्रेताओं का जाल फैला। अमेरिका के लैण्डग्रान्ट कॉलेज की तर्ज पर प्रारम्भ किए गए सभी कृषि विश्वविद्यालयों में से निकले अधिकांश विद्यार्थी खेतों पर जाने के बजाए रासायनिक खाद या दवाइयां बनाने वाली राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के विक्रय प्रतिनिधि बने। कृषि विभाग का पूरा अमला रासायनिक खाद और कीटनाशक कम्पनियों के बिक्री के लक्ष्य पूरे करने में जुट गया। बचे हुओं ने कृषि महाविद्यालय या कृषि विभाग में नौकरी कर ली।

वर्षों तक यही सिलसिला चलता रहा। लेकिन जैसा कि होता है झूठ को हमेशा दबाकर नहीं रखा जा सकता। हमारा किसान बाह्य ऊर्जा के बढ़ते खर्च में दब गया। उत्पादन अधिक पाकर भी उसकी खेती लाभकारी न हो सकी। कृषि रसायनों ने प्रदूषण फैलाया, जमीन की उर्वरा शक्ति नष्ट होने लगी और जल धीरे धीरे लुप्त होने लगा। मौसम का सन्तुलन बिगड़ने लगा। बड़ी मात्रा में ग्रामीण लोग गांव छोड़ शहरों की और लपके। शहरों में बेरोजगारी, गन्दगी, भीड़, उग्रता, हिंसा और बीमारियां बढ़ीं। उधर गाँवों में आर्थिक

तंगी के कारण किसानों के बीच आत्महत्या का सिलसिला चालू हुआ जो आज भी जारी है। भारत कृषि प्रधान देश है इसलिए खेती समस्या से ग्रस्त ग्रामीणों द्वारा आत्महत्या का सहारा लेना स्वाभाविक है। फिर भी आत्महत्या के आंकड़ें चौंकाने वाले हैं। भारत में ऐसी आत्महत्या के कारणों के आंकड़े (सन् 1999 के आधार पर) निम्नानुसार हैं :–

आत्महत्या किस कारण ?

प्रदेश	गरीबी	बेकारी	खेती समस्या
मध्यप्रदेश	106	94	2654
महाराष्ट्र	258	201	2423
कर्नाटक	479	200	2379
आंध्रप्रदेश	825	154	1974
केरल	9	307	1431
पं. बंगाल	43	143	1240
उत्तर प्रदेश	132	143	845
तमिलनाडू	356	231	804
कुल	2208	1473	13750

स्त्रोत – अनुभव मराठी मासिक पत्रिका जुलै 2003

हमारी खेती आज चौराहे पर खड़ी है और कल की ओर देख रही है कि खेती का भविष्य क्या होगा ? कल तक किसानों के बीच लोकप्रिय माने जाने वाले संकर और उन्नत बीज आज भी पूरे भारत में प्रचलित नहीं हैं। भारत का केवल 15–20 प्रतिशत इलाका ही संकर और सुधारित बीजों से व्याप्त है। जबकि बीज, खेती का प्रथम और अन्तिम शस्त्र माना जाता है।

घटती जमीन और बढती आबादी का अन्त में हश्र क्या होगा ? क्या माल्थस का सिद्धान्त लागू होगा कि जब आबादी अपने आपे से बाहर हो जाती हैं तब प्राकृतिक विपदा ही आबादी खत्म कर सन्तुलन बनाए रखती हैं या फिर मानव मस्तिष्क ही बढ़ती आबादी के लिए अधिक अन्न पैदा करके दिखा सकता है ? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए हमें खेती के नये अविष्कारों को समझना होगा। ये अविष्कार हैं जैव प्रौद्योगिकी, उतक संवर्धन और जैविक या प्राकृतिक खेती।

यह सही है कि हमारे कृषि वैज्ञानिकों ने पौध प्रजनन के माध्यम से देश में अन्न उत्पादन बढ़ाया। हमारे यहाँ पहले जहाँ 50 करोड़ टन अनाज होता था आज वह 190 करोड़ टन तक पहुँच चुका है। परंतु दिक्कत इतनी है कि उत्पादन बढ़ाने के लिए हमारे वैज्ञानिकों द्वारा जो प्रौद्योगिकी अपनाई गई वह इतनी महँगी साबित हो रही है कि साधारण जोत वाला किसान उसे चाह कर भी अपना नही सकता। इस प्रौद्योगिकी से उत्पन्न अनाज भी महँगा है तथा जन साधारण की क्रय शक्ति के बाहर है।

इसके लिए यह जरूरी है कि प्रौद्योगिकी के आसान तरीके खोजे जाएँ।

अ. जैव प्रौद्योगिकी

प्रकृति विज्ञान ही है लेकिन जब इसे मानव वंश के विकास और समृद्धि के लिए उपयोग में लिया जाता है तब यह प्रौद्योगिकी बनती है यानी विज्ञान प्रकृति की देन है और प्रौद्योगिकी मानव की देन है। प्रकृति का ही एक अदृश्य स्वरूप लेकिन सबसे ताकतवर जैविक घटक है सूक्ष्म जीव। यही सूक्ष्म जीव या सूक्ष्म जीव से जुड़े एन्झाइम का उद्योगों और कृषि में किया गया उपयोग प्रौद्योगिकी कहलाता है।

जैव प्रौद्योगिकी पूरी तरह जनन द्रव्यों पर आधारित प्रक्रिया है जो जीवों और उनकी कोषिकाओं द्वारा पैदा किए जाते हैं और एक दूसरे से संयोग करते हैं। इनका अनुवांशिकी से भी गहरा ताल्लुक रहता है। वंश की वृद्धि प्राणियों में व्याप्त लैगिंक क्रिया से संचालित होती हैं जिनमें गुणसूत्र की अहम भूमिका रहती हैं इन गुणसूत्रों (क्रोमोझोम) पर अलग–अलग किस्म के जीन्स (जनुक) रहते हैं जो जीवित प्राणी में व्याप्त गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं जैसे फूलों का रंग, पौधें की लम्बाई, फसल के पकने की अवधि आदि। नर–मादा का प्रजनन जीवित प्राणियों और फसलों में भी होता है। कृषि विज्ञान में अलग–अलग किस्मों के अपनी इच्छा के अनुसार नर और मादा पौधों का प्रजनन करा कर संकर किस्में या सुधारित किस्में तैयार की जाती थीं। होता यह था कि अधिक उत्पादक अथवा अच्छी गुणवत्ता वाली किस्म के पौधों में रोग प्रतिरोधक क्षमता के गुणधर्म स्थापित करने हेतु ऐसी किस्म के साथ संकरण कराया जाता । इस प्रकार कई गणुधर्मों का आपस में गठजोड़ संकरण प्रक्रिया से संभव था। लेकिन उसमें समय अधिक लगता था। कई बार ऐसा भी होता था कि किसी एक विशिष्ट गुण को पकड़ने में दूसरे आवश्यक गुण छूट जाते थे।

वैज्ञानिकों ने इस समस्या पर खोज की और गुणसूत्रों के बजाए गुणसूत्रों पर विराजमान जनुक (जीन) का प्रत्यावर्तन करने की तकनीक विकसित की।प्राणियों में और पौधों में कोशिकाएँ होती हैं और हर कोशिका में गुणसूत्र (क्रोमोसोम) होते हैं जो जोड़ों में होते हैं और धागे जैसे दिखाई देते हैं। इन गुणसूत्रों पर छोटे–छोटे गोल बिन्दु होते हैं जिन्हें जनुक (जीन) कहते हैं। अब जनुक (जीन) पर भी नई जानकारी उपलब्ध है। हर जनुक (जीन) एक विशिष्ट गुण लिए होता है जैसे पौधे की अधिक उत्पादन देने की क्षमता, जल्दी पकने की क्षमता, पौधे का ठिगना या ऊँचा कद आदि। स्त्री और पुरुष के शरीर की हर कोशिका में ये गुणसूत्र होते हैं उसी तरह पौधे के नर और मादा अंगों में भी यह गुण सूत्र होते हैं, जिनकी कुल संख्या 46 होती हैं और वे जोड़ों में होते हैं अर्थात 23 जोड़े गुणसूत्र निश्चित हैं। इन जोड़ों का आपसी संयोग होता है और मादा कोशिका में आने वाली सन्तति का गर्भ रहता है तब एक गुणसूत्र ऊंचे कद को वहन करेगा जबकि दूसरा गुण सूत्र ठिगने कद का वहन करेगा और वह अगले वंश में प्रकट होगा। इस वंश का वाहक एक रसायन होता है जिसे डी. एन. ए. (डिऔक्सीरिबो न्यूक्लिक एसिड) कहते हैं। एक वंश से दूसरे वंश में प्रबल गुण का प्रकट होना प्रभावी गुण (Dominant) कहलाता है। नर–मादा के इस संकरण से आने वाली सन्तति की किस्में अलग–अलग प्रकार की होती हैं। वैज्ञानिकों ने खोजे अनुवंशिकी परिवर्तित किस्मों में ठीक इसका उल्टा होता हैं। वहाँ चाहा गया गुण ही अगली पीढ़ी में प्रकट होगा। अर्थात चाहा गया गुण उस गुणसूत्र से निकलकर दूसरे जीव के गुणसूत्र पर स्थापित करना अब सम्भव है और यह परिवर्तन जरूरी नहीं है कि एक ही प्रकार के जीवों में लागू हो जैसे मछली की कोशिका में व्याप्त गुणसूत्रों से निकाला गया एक गुण पौधे की कोशिकाओं में व्याप्त गुणसूत्र पर स्थापित किया जा सकता है। इसमें प्रमुख भूमिका डी एन. ए. रसायन की होती है। इसमें एक और बात ध्यान में रखना जरूरी हैं कि इस

बदलाव के लिए एक वाहक की जरूरत होती हैं जो किसी भी सूरत में अपनी पहचान बनाए रखे। मछली और पौधे के गुणों के परस्पर परिवर्तन के लिए एक विषाणु (वायरस) का वाहक के रूप में उपयोग किया जाता है जो हर हालत में अपरिवर्तनशील है। यहाँ पर भी एक सूक्ष्मजीव (बैक्टेरिया) में व्याप्त डी. एन. ए. काम आता है। दूसरे शब्दों में अनुवांशिकी परिवर्तन पूरी तरह से डी. एन. ए. का खेल है। आम तौर पर इसके लिए वह सूक्ष्मजीव काम में आता है। जो प्रतिजैविक पदार्थों (एंटिबायोटिक) को सहन करते हों। पौधों में आम तौर पर जो विषाणु इस प्रक्रिया में वाहक के रूप में काम में लिए जाते हैं वे हैं गोभी में व्याप्त मौजेईक वायरस।

अनुवांशिकी परिवर्तनशीलता (GMO) का एक अन्य दिलचस्प उदाहरण इस प्रकार है। ऊंचे पहाड़ों पर जहाँ बारह महीने बर्फ जमी रहती है, वहाँ पर झीलों में विशिष्ठ प्रकार की मछलियाँ तो जीवित रहती है मगर वहाँ टमाटर पैदा नहीं हो सकता है। कारण यह है कि मछली की कोशिकाओं में व्याप्त गुणसूत्रों में एक जनुक (जीन) बर्फीली हवा सहन करने में सक्षम होता हैं जो टमाटर में नहीं होता है। यदि वहाँ टमाटर उगाना हो तो टमाटर की कोशिकाओं में मछली का बर्फ सहन करने वाला गुण प्रविष्ठित कराया जा सकता है और यह परिवर्तन कायम रहे उसमें किसी प्रकार का फेरबदल न हो इसलिए इस अनुवांशिक परिवर्तन में विषाणु (वायरस) को भी वाहक के रूप में लाना जरूरी है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, गोभी के मोजेइक वायरस विषाणु का उपयोग वाहक के रूप में किया जाता है या किया जा सकता है। इस प्रकार अनुवांशिकी परिवर्तन एक प्रकार की कृषि क्रान्ति साबित हो रही है। दूसरा उदाहरण हैं कपास फसल का। कपास में हरी इल्ली का भयानक प्रकोप पाया जाता है यह हरी इल्ली जिसे हेलीकोवर्पा या अमेरिकन बॉलवार्म कहते हैं 100 प्रकार की फसलों पर आक्रमण करती है, जिसका एकमात्र प्रभावी उपाय डी. डी. टी. कीटनाशक रसायन था जिसे अति विषैले असर के कारण बन्द कर दिया गया। उसके बाद तीसरी पीढ़ी के पायरेथ्राईड कीटनाशक बाजार में आए मगर केवल पांच–छः साल में ही हरी इल्ली में उस कीटनाशकों की प्रतिरोधक क्षमता विकसित हो गई और किसान फिर परेशान हो गए।

हरी इल्ली का जैविक कीट नियंत्रण भी संभव है। बेसिलस थुरेनजंसिस नाम का जीवाणु (बैक्टिरिया) बखूबी हरी इल्ली को नियंत्रित करता है। परंतु इस जीवाणु (बैक्टिरिया) का प्रयोगशाला में कृत्रिम उत्पादन महंगा और धीमी गति से होने से वैज्ञानिकों ने इस जीवाणु के जनुक (जीन) को ही कपास की एक जाति में प्रविष्ठ करा कर कपास की नई किस्म विकसित की, जिसे बी टी कपास कहते हैं। बैसिलस थुरेनजंसिस जीवाणु मिट्टी में रहता है उसके डी. एन. ए. पर एक जीन रहता है जिसे बी. टी. जनुक (जीन्स) कहते हैं। यह जीवाणु के अन्दर रवेदार प्रोटीन बनाता है जो हरी इल्ली की अन्न नलिका में प्रवेश कर उसे अपंग बना देता है। इल्लियाँ मर जाती है। वैसे अनुवांशिकी परिवर्तनशील तकनीक सबसे पहले तम्बाकू में प्रारम्भ हुई थी। विगत 15–16 वर्षों में यह तकनीक कपास के अलावा आलू, मक्का, टमाटर, सरसों, फूलगोभी, पत्ता गोभी में भी प्रविष्ठ की गई है।

ब. अनुवांशिकी परिवर्तन के सम्भवित खतरे

इस तकनीक के कुछ संभावित खतरें भी हैं। जैसे बी. टी. कपास किस्म केवल हरी इल्ली का नियंत्रण करती है जबकि अन्य कीटों के नियंत्रण के लिए कीटनाशक दवाइयों का छिड़काव जरूरी है।

इससे दूसरे कीटों में प्रतिरोधात्मक शक्ति विकसित हो रही है।

तीसरे टमाटर, आलू, मक्का आदि की ट्रान्सजिनिक किस्म जिस रवेदार प्रोटीन का निर्माण करती है वह मानव शरीर के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है। हालांकि इस सम्बन्ध में अभी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है परंतु उसकी पूरी आशंका है।

वैज्ञानिक बताते हैं कि अन्य कीट, जो फसलों को हानि नहीं पहुँचाते तथा किसान के लिए मित्र उपयोगी हैं उन पर बी. टी. जीन्स का दुष्परिणाम देखा गया है।

अनुवांशिकी परिवर्तन के द्वारा विकसित की गई ऐसी किस्में जो खरपतवार नाशी रसायनों के दुष्परिणामों से खुद का बचाव करती है उन ट्रान्सजिनिक पौधों के पास लगे दूसरे पौधों में यदि उपचारित पौधों के पराग–कण उड़कर गए तो वह भी प्रतिरोगात्मक होंगे और उसमें नए किस्म के खरपतवार पैदा होंगे।

अनुवांशिकी किस्म के पौधों में अनुवांशिकता के गुण टिकाऊ रखने के लिए भिन्न प्रकार के विषाणु (वायरस) का इस्तेमाल किया जाता है, जिन पर कभी–कभी एंटिबायोटिक दवाओं का असर नहीं होता वे मानव स्वास्थ्य के लिए खतरनाक साबित होगें। और इन सबसे खतरनाक और चिन्ताजनक बात तो यह हैं कि अनुवांशिकी किस्मों का प्रजनन जैविक विविधता नष्ट करता है। इसलिए यह जरूरी है कि अनुवांशिकी किस्म के पौधों इस्तेमाल करने के पूर्व उनकी पूरी जाँच परख कर लें।

स. ऊतक संवर्धन (टिश्युकल्चर) :

पौधे के, जीवित कोशिका को पौधे से अलग कर उसे कृत्रिम रूप से परखनली (टेस्ट ट्युब) में उगाना ही ऊतक संवर्धन कहलाता हैं इस तकनीक से अधिकतर पत्तियों के किसी जीवित कोष या कोशिका को ही परखनली में विकसित कर पूरा पौधा बनाया जाता है।

जर्मनी के वैज्ञानिक हैबरलेट ने सन् 1902 में अलसी के पौधे पर ऊतक संवर्धन की संभावना खोजी थी। फ्रांस के वैज्ञानिक आर. जे. गाउथरेट, अमेरिका के पी. आर. व्हाईट और फ्रांस के नोबेफोर्ट ने 1940 से 1959 के बीच परिपक्व पौधों की कोशिकाएं निकाल कर उनसे पूरे पौधे की विकास की संभावनाओं पर खोज की। व्हाईट ने तो पौधों की बढ़वार के लिए कृत्रिम माध्यम खोजा जो आज भी व्हाईट मीडियम के नाम से जाना जाता है।

ऊतक संवर्धन में पहले भ्रूण कोशिका से फिर बाद में बीज पत्रों कॉटीलिडन से भ्रूण पौधों की वृद्धि की सम्भावनाएं तलाशी जा रही है। वैसे सन् 1925 में लायबैंक ने कृत्रिम पद्धति से अलसी का पहला भ्रूण बनाया था। भारत में इसकी विधिवत शुरुआत सन् 1980 में हुई जब केन्द्र में राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी मंडल की स्थापना हुई। भारत शासन के विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग ने इसकी शुरुआत की। इटली के अर्न्तराष्ट्रीय अनुवांशिकीय यांत्रिकी और प्रौद्योगिकी केन्द्र के तत्वावधान में दिल्ली में इसकी शाखा प्रारम्भ हुई। इसके अलावा भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली, राष्ट्रीय दुग्ध अनुसन्धान केन्द्र, कर्नाल और भारतीय पशु स्वास्थ्य अनुसंधान संस्था, इज्जतनगर में भी ऊतक संवर्धन पर कार्य चल रहा है। लालबहादुर शास्त्री प्रगत प्रौद्योगिकी केन्द्र, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान संस्था लखनऊ तथा भारत शासन के प्रौद्योगिकी विभाग ने यह कार्यक्रम आगे बढ़ाया, जिससे चावल, मक्का, जौ, जई, गन्ना, अरबी,

चना और बरसीम जैसी फसलों पर ऊतक संवर्धन कार्यक्रम सुचारु रूप से चल रहा हैं।

मुंबई के भाभा एटामिक रिसर्च सेंटर में चंदन, नीलगिरी तथा गेंहूँ पर ऊतक संवर्धन का काम चल रहा हैं। राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला पुणे में ऑक्रिड, नीलगिरी तथ जंगली पौधों पर काम हो रहा है, जबकि पंजाब कृषि विश्व विद्यालय में उड़द और मूंग पर डॉ. बजाज काम कर रहे हैं। दिल्ली विश्व विद्यालय में तुअर और चने पर, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान में पपीता, राई और अन्य तिलहनी फसलों पर काम चल रहा है। बंगलोर स्थित भारतीय बागवानी अनुसंधान संस्थान के वैज्ञानिक विशेषकर अंथुरियम और झरबेरा फूलों पर काम कर रहे हैं। चावल अनुसंधान निदेशालय, हैदराबाद में चावल पर, केन्द्रीय आलू अनुसंधान संस्थान में आलू पर भारतीय गन्ना अनुसंधान केन्द्र लखनऊ में गन्ने पर तथा केन्द्रीय बागान (प्लॉण्टेशन) फसल अनुसंधान केन्द्र कासेरगोड़ (केरल) में साबूदाना, रबर तथा अन्य कन्द–मूल रोपण फसलों पर ऊतक संवर्धन कार्य चल रहा है। बड़ौदा के महाराजा शिवाजीराव विश्वविद्यालय में ऊतक संवर्धन के कायिकी (फिजियालॉजिकल) पहलू पर अनुसन्धान हो रहा है। इन्दौर कृषि महाविद्यालय में भी सन् 1985 से ऊतक संवर्धन प्रारंभ हुआ था। कुछ निजी क्षेत्रों में भी व्यापारिक स्तर पर अनुसंधान तथा विक्रय कार्य चल रहा है, जिनमें वंसतदादा इन्स्टीट्यूट, लोनी, पुणे, इन्द्रायणी बायोटेक, पुणे महाराष्ट्र राज्य प्रांत बागायतदार संघ पुणे तथा जैन इरिगेशन लि. जलगाँव, डॉ. स्वामीनाथन फाउण्डेशन, चेन्नई, महिको और इण्डोअमेरिकन हायब्रिड सीड बेंगलौर, जैसे संस्थानों में ऊतक संवर्धन अनुसंधान एवं तैयार पौधों की बिक्री की जा रही है।

भारत चूंकि कृषि प्रधान देश रहा है अतः ऊतक संवर्धन उद्योग का भविष्य उज्जवल हैं। हमारे यहाँ फूलों पर उतक संवर्धन कार्य अधिक हुआ है।

आज भारत में 3 से 5 हजार करोड़ रूपये मूल्य के ऊतक संवर्धन तकनीक से बने पौधे प्रतिवर्ष चाहिए जबकि 500 करोड़ के भी उपलब्ध नहीं हैं। हमारे यहाँ अदरक, हल्दी, केला, साबूदाना, शकरकन्द, गराड़ू और स्ट्राबेरी के इस तकनीक द्वारा उत्पन्न पौधों की अच्छी मांग हैं।

द. जैविक खेती

वास्तव में परम्परागत भारतीय खेती जैविक खेती ही थी जिसमें गाय के गोबर और विभिन्न वनस्पतियों का उपयोग खाद के रूप में किया जाता था। कीट, रोग तथा खरपतवार नियंत्रण के लिए रसायनों का कदापि उपयोग नहीं होता था। औद्योगिक क्रान्ति के बाद रासायनिक खेती का युग प्रारम्भ हुआ और देखते ही देखते सारे विश्व में कृषि रसायन इस कदर छा गए कि जिसका कोई हिसाब नहीं। 1960 के दशक में मेक्सिकन जाति के गेहूँ और उसके बाद मक्का, ज्वार, बाजरा और बाद में कपास से प्रारम्भ संकर किस्मों के कारण उर्वरकों और पौध रक्षक रसायनों की जैसे बाढ़ आ गई। इसके बहुत देर बाद आम जनता को जब समझ में आने लगा कि जो अनाज, दालें और सब्जियां वे खा रहे हैं, वे स्वादहीन होती जा रही हैं और किसानों को भी समझ में आने लगा कि रासायनिक खेती की जो तकनीक वे अपना रहे हैं वह महंगी और थका देने वाली है। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। पहले किसान के यहां पैदावार भले ही कम थी मगर लागत खर्च करीब–करीब नहीं के बराबर होने से खेती उसके लिए बोझा नहीं थी। आज वह जो कुछ भी कमा रहा है वह उपज के लिए आवश्यक आदान बनाने और बेचने वालों के लिए कमा रहा

है और इतना करने पर भी आत्महत्या करना उसकी मजबूरी है। विश्व में जैविक खेती का प्रचलन काफी अरसे से था परंतु बीच के कुछ दशकों में खेती में कृत्रिम रसायनों के बेतहाशा उपयोग ने इसका परंपरागत स्वरूप बदल दिया था और रसायनों के बढ़ते उपयोग से नई समस्याएं सिर उठाने लगी। इन सब दुष्परिणामों पर दक्षिण भारत के जागरुक नागरिकों में सर्वप्रथम चेतना फैली। उसी समय 1952 में अमेरिका की रैशल कार्सन की पुस्तक दी साइलेण्ट स्प्रिंग ने सारी दुनिया में कृषि रसायनों के खिलाफ आँधी उठा दी। इस किताब ने हमें बताया कि कृषि रसायन किस तरह हमारे जीव जन्तुओं, पक्षियों और अन्त में मानव जाति लिए खतरा साबित हो रहे है, कितने लोग जहरीले अवशेषों से भरे खाद्यान खा कर धीरे–धीरे मर रहे हैं और कैंसर जैसी घातक बीमारी के शिकार होते जा रहे हैं। इसी बीच खाड़ी के देशों द्वारा खनिज तेलों के भाव बार–बार बढ़ा दिए जाने से रासायनिक खादों और कीटनाशक दवाइयों की कीमतों में बेतहाशा वृद्धि हुई। किसानों को महँगे दामों में कृषि रसायन खरीदना पड़े और उनकी आर्थिक हालत बिगड़ती गई। दक्षिण भारत में शिक्षा का स्तर अधिक होने से किसानों में जागरूकता अधिक है। कम जोत वाली खेती और कमजोर संसाधनों के कारण वहाँ किसानों ने कृषि रसायनों के विकल्प खोजना प्रारम्भ किए और रासायनिक खादों के स्थान पर जीवाणु खाद, केचुआँ खाद और गोबर की खाद का प्रचार वहाँ होने लगा। रासायनिक पौध रक्षक दवाओं के स्थान पर गोमूत्र, छांछ, नीम, करंज तथा अन्य वानस्पतिक घोल वहाँ ज्यादा प्रचलित होने लगे।

मध्यप्रदेश के संदर्भ में जानना दिलचस्प होगा कि सबसे पहले इन्दौर में जैविक खेती पर प्रचार प्रसार हुआ। सन् 1990–91 में इन्दौर कृषि महाविद्यालय में तत्कालीन डीन डॉ. वी. एन. श्राफ के नेतृत्व में कुछ वैज्ञानिकों ने खड़ी फसल में जीवाणु खाद देने की तकनीक खोजी जो एक नई बात थी। अभी तक जीवाणु खाद को बोनी के समय बीजोपचार द्वारा देने की सिफारिश की जाती रही। इसके लिए मई जून की तपती गर्मी में भारत के दूर दराज गाँवों में शासकीय स्तर पर जीवाणु खाद के पैकेट कल्चर के नाम से बांटे जाते थे। किसी ने यह जानने की आवश्यकता नहीं समझी कि मई माह में जब साधारणतया तापमान 40° सें. से ज्यादा रहता है, कई जगह लू चलती है इसके लू में हर साल हजारों मौतें हमारे देश में हुई है ऐसे दमघोटू वातावरण में जैविक कल्चर में उपस्थित जीवाणु कैसे जीवित रहकर कार्यक्षम हो सकते हैं? यह वैज्ञानिक तथ्य है कि 30–35° सें. के ऊपर जीवाणु जीवित नहीं रहते। इसके बावजूद हजारों लाखों टन जीवाणु कल्चर खाद शासकीय निकायों द्वारा किसानों को बेचा जाता रहा। इसके विकल्प के रूप में इन्दौर कृषि महाविद्यालय के वैज्ञानिकों ने बारिश के बाद जब तापमान 30–35° सें या इससे नीचे गिर जाता है तथा मौसम में नमीं रहती है तब खड़ी फसल में ओरकर जीवाणुं खाद देने की पद्धति विकसित की थी। इसके लिए मध्यप्रदेश शासन ने इन्दौर में अखिल भारतीय जैविक खेती सेमिनार भी आयोजित किए। भारत शासन के कई वरिष्ठ अधिकारी और वैज्ञानिक यहाँ आकर फसलों का अवलोकन कर गए। बावजूद इसके अज्ञात कारणों से वह तकनीक यहाँ विकसित नहीं हो पाई और कल्चर पैकेट का उपयोग उसी प्रकार तपती गर्मी में आज भी हो रहा है।

इन्दौर स्थित कस्तूरबा ग्राम जैविक खेती का मुख्य केन्द्र बिन्दु रहा। यहाँ का गोबर गैस संयंत्र और गीर गायोंवाली गोशाला भारत में प्रसिद्ध थी। इसका पूरा श्रेय प्रसिद्ध गाँधीवादी बनवारीलालजी चौधरी और उनके बाद कस्तूरबा ग्राम कृषिक्षेत्र की बागडोर सम्हालने वाले पद्मश्री टी. जी. के. मेनन को जाता है। यदि मध्यप्रदेश में जैविक खेती का सूत्रपात किसी ने किया हो तो उसकी शुरुआत कस्तूरबाग्राम सें हुई

है। इन्दौर के पास जोशीगुराड़िया गांव में सर्वप्रथम व्यापक स्तर पर जैविक खेती की गतिविधियाँ प्रारम्भ हुए। कई किसानों ने केंचुआ खाद नाडेप पद्धति से गोबर, बारीक महीन मिट्टी और वनस्पति के साथ कम्पोस्ट खाद बनाना प्रारम्भ किया। गोमूत्र, छाछ, नीम, करंज, धतूरा सीताफल, बेशरम के पत्तों, से कीटनाशक बनाए। रासायनिक खादों और कीटनाशकों का उपयोग बंद कर दिया। भारत सरकार ने जैविक खेती को बढ़ावा देने के लिए सर्वप्रथम जो टास्क फोर्स बनाया था उसमें पदमश्री टी. जी. के. मेनन तथा कृषि महाविद्यालय के डॉ. एस. सी. व्यास को भी शामिल किया गया।

क. जैवगतिकीय (बायोडायनामिक)

सन् 1991 में मध्यप्रदेश के तत्कालीन कृषि उत्पादन आयुक्त श्री सत्यम की पहल पर अखिल भारतीय जैविक खाद सेमिनार, नीम सेमिनार, बायोडायनामिक खेती पर सेमिनार आयोजित हुए। मध्यप्रदेश शासन ने पहली बार अपनी कृषि नीति में जैविक खेती को शामिल किया। पूरे देश में ही नही, पूरे विश्व में पहली बार उपसंचालक जैविक खेती का पद इन्दौर में स्थापित हुआ। सन् 2002 के बाद मध्य प्रदेश के कृषि संचालक डॉ. गोपाल सिंह कौशल ने जैविक खेती के प्रचार–प्रसार में उल्लेखनीय कार्य किया। उनके प्रयासों से प्रदेश के हर ब्लॉक में 2–2 गाँव जैविक ग्राम घोषित किए गये, किसानों को जैविक खाद्यान्नों का बाजार मिले इसलिए उन्होंने भोपाल में कृषक जगत साप्ताहिक के सहयोग से 'जैविक हाट' प्रदर्शनी भी लगाई थी। 2004 में उनके निवृत्त होते ही जैविक खेती का काम भी निवृत्त हो गया। न्यूजीलैन्ड से आए कृषि वैज्ञानिक डॉ. पीटर प्रोक्टर ने बायोडायनामिक तरीकों से किसानों को अवगत कराया। यहाँ इन्दौर के कृषि महाविद्यालय में उन्होंने बायोडायनामिक यानी जीव गतिकीय तरीकों से खाद बनाने का तरीका कर के बताया। इसके अलग–अलग तरीकों से गोबर से खाद बनाने के तरीके बताए जाते हैं। मरी हुई गाय के सीगों में गोबर भरकर उन्हें क्वार के महीने में जब चन्द्र दक्षिणायण में हो तब जमीन में गाड़ दिया जाता है और चैत्र में जब पुनः चन्द्र दक्षिणायण में हो तब इन सींगों को निकाला जाता है। सींगों में जो सिलिका होती हैं उसकी अहं भूमिका रहती है। सींग गाड़ते समय गोबर का वजन 500 ग्राम होता हैं मगर जब 7 माह सींग निकलते हैं तब वह मात्र 120–130 ग्राम रह जाता है। इस संपृक्त खाद की केवल 30 ग्राम मात्रा एक एकड़ भूमि का उपचारित करने के लिए पर्याप्त होती है। इस 30 ग्राम जीव गतिकीय तरीके से तैयार किए गए गोबर को करीब 13 लीटर वर्षा के पानी (या डिस्टिल) में घोलकर एक एकड़ भूमि में छिड़का जाता हैं। इसके अलावा अन्य पौध पोषण भूमि देने की जरूरत तो रहती ही है। यह केवल उत्प्रेरक का काम करती है। जैविक खेती और जैव गतिकीय (बायोडायनामिक) खेती अथवा प्राकृतिक खेती का मूल मंत्र एक ही हैं, प्रकृति से जुड़ना। प्राकृतिक खेती में जहाँ खेतों को जोतना भी निषिद्ध माना गया है, जैविक खेती और जीव गतिकीय खेती के नियम कुछ आसान हैं।

दरअसल जैविक खेती पंचमहाभूतों के प्रभाव से जुड़ने की विधा है। प्रकृति जिस तरह जल, थल, नभ, वायु और अग्नि से मिलकर बनी हैं हमारा शरीर भी इन्ही पंच महाभूतों से बना है। हर जीवित प्राणी में जल, थल (चमड़ी) वायु, अग्नि और आकाश (अवकाश) रहता है। दही जैसे पदार्थों में व्याप्त जीवाणु जिस तरह हमारे शरीर की पाचन क्रिया में सहायक होते हैं उसी तरह खेती में भी सूक्ष्म जीवाणुओं की अहम् भूमिका रहती है। यह माना जाता है कि वायु मण्डल में करीब 78 प्रतिशत नत्रजन भरा हुआ हैं जो पौधों

को केवल भूमि में व्याप्त सूक्ष्म जीवाणुओं द्वारा ही उपलब्ध होता है। यह सूक्ष्म जीवाणु न केवल नत्रजन बल्कि अन्य महत्वपूर्ण घटक, जैसे फास्फोरस, पोटाश, गंधक और चूना भी उपलब्ध कराते हैं। मिट्टी एक जीवित पदार्थ है जिसमें खरबों जीवाणु पलते हैं जो फसलों को भोजन और जल उपलब्ध कराने में सहायक बनते हैं। जहाँ जीवाणु होते हैं वहाँ भूमि की जल ग्रहण शक्ति बढ़ती है और बार–बार सिंचाई की जरूरत नहीं पड़ती है।

ख. केचुआ खाद

केचुआ जैविक खेती का महत्वपूर्ण घटक है। वह प्रकृति की बड़ी देन हैं। सन् 1784 में केचुए की तरफ पहली बार चार्ल्स डारविन का ध्यान गया। आज केचुओं की 3000 से ज्यादा प्रजातियाँ दर्ज की गई हैं जिनमें भूमि की उपरी सतह में जीवित रहने वाली और गहरी जमीन में रेंगने वाली प्रजातियाँ शामिल हैं। केचुंआ प्राकृतिक हाली है, जो दिन रात जमीन को जोतता रहता है। उसका काम है भूमि को पोली बनाकर अधिक से अधिक नमी को संरक्षित रखना, भूमि में विद्यमान हानिकारक जीवाणुओं को खाकर पचाना और अपने मल द्वारा उपयोगी जीवाणुओं को भूमि में उपलब्ध कराना ताकि वे भूमि में उपस्थित पौध पोषक द्रव्यों को फसल तक पहुँचाए। दरअसल फसल को दी जाने वाली गोबर की खाद भूमि में व्याप्त केचुंओं और अन्य जीवाणुओं का भोजन है फसल का नहीं। इस खाद को खाकर केचुंआ जो मल बाहर निकालता है वह फसल का भोजन है। केचुआ खाद से भूमि का जैविक कर्ब (कार्बन) बढ़ता है, कई उपयोगी पौध संवर्धक बनते हैं जो भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाते हैं। आज बड़े पैमाने पर किसान केचुआ खाद अपनाकर मिट्टी को उपजाऊ बना रहे हैं। केचुआ खाद में महत्वपूर्ण एंटीबायोटिक एन्झाइम और एक्टीनोमायसिन होते हैं जो फसल को पौध पोषण में सहायता देते हैं। इस खाद में केचुओं के बारीक अण्डे भी होते हैं।

ग. जैव उर्वरक

खेती मुख्यतः सूक्ष्म जीवों और जीवाणुओं की खेती है। ये जीवाणु वायुमंडल से नत्रजन खींचकर पौधों को उपलब्ध कराते हैं तथा अन्य उपयोगी जैविक प्रक्रियाएं प्रांरभ करते हैं। अनेक दलहनी और तिलहनी फसलों की जड़ों में ये नत्र खींचने वाले जीवाणु प्राकृतिक रूप से उपलब्ध रहते हैं। मूंग, उड़द, चना, तुवर की दालों में, उसके अलावा सोयाबीन, मूंगफली आदि तिलहनी फसलों की जड़ों में ग्रन्थियाँ रहती हैं, जिनमें वायुमंडल से नत्रजन लेकर पौधों को देने की क्षमता होती है। इसके अलावा बबूल, सनई, ढेंचा तथा कई प्रकार की वनस्पतियों की जड़ों में भी ये ग्रन्थियाँ मौजूद रहती हैं, जो भूमि नत्रजन प्रदान करती है।

अब ये जीवाणु जैविक कल्चर से बने उर्वरक के नाम से बाजारों में उपलब्ध हैं। इन जीवाणुओं की दो प्रजातियां होती हैं, पहली रायजोबिया जो दलहनी पौधों की जड़ों पर उपस्थित ग्रंथियों में भी रहती हैं। तथा एजेटोबैक्टर जीवाणु जो गैर–दलहनी पौधों पर रहते हुए उन्हें भी नत्रजन उपलब्ध कराते हैं।

नत्रजन के अलावा स्फुर देने वाले कुछ जीवाणु भी वैज्ञानिकों ने खोजे हैं जिन्हें स्फूर घोलक जीवाणु कहते हैं। ज्वार और मक्का की जड़ों में प्राकृतिक अवस्था में व्याप्त माईकोरायझा जीवाणु बाजार में उपलब्ध हैं। इसके अलावा नालियों, पोखरों और नदियों में व्याप्त शैवालों में भी वातावरण से नत्रजन लेकर वनस्पतियों

को देने वाले जीवाणु उपलब्ध है, जिन्हें नील हरित शैवाल कहते हैं।

अधिकतर जैव उर्वरक प्रयोगशालाओं में कृत्रिम माध्यमों से पैदा किए जाते हैं तथा लिग्नाइट या कोयले की चूरी में उनका मिश्रण किसानों को प्रदाय किया जाता है।

घ १. जैविक पौध रक्षक

रासायनिक कीटनाशक संकर ज्वार और कपास के आगमन के बाद हमारे देश में लाए गए। अधिक कपास उत्पादन देने वाली किस्मों की कृषि कार्यमाला में भले ही सन्तुलित खाद और पौधरक्षक दवा की अनुशंसा की गई हो परंतु व्यावहारिक तौर पर और अधिक उत्पादन पाने की लालसा में किसानों ने कृषि रसायनों का विशेषकर रासायनिक पौध रक्षक दवाइयों का अंधाधुंध और अनावश्यक छिड़काव प्रारम्भ किया। इससे वे जल्दी बेकार साबित हुए। एक तो वे महंगे, दूसरे बहुत शीघ्र कीड़े उन्हें पचाने लगे, अतः किसान पूरी तरह प्राकृतिक पौध रक्षक जैसे गोमूत्र, पुरानी छाछ, निम्बोली, करंज का प्रयोग करने लगा। इनसे एक फायदा यह भी हुआ कि फसल के रखवाले प्राकृतिक कीट और फफूंद फिर से खेतों में दिखने लगे मगर कई बार किसान बीच–बीच में कीटनाशक रसायनों का छिड़काव करने से तो वे नष्ट भी होने लगे हैं। ये प्रमुख मित्र कीट हैं ट्रायकोग्रामा मक्खी, क्रायसोपरला, ब्रेकोनिड़ी, लेडी बर्ड बीटल, सिरफिड़, मक्खी, कई प्रकार की मकड़ियाँ, टिड्डे आदि। इसके अलावा चिड़ियाँ, मुर्गियाँ भी।

प्रकृति का सन्तुलन जैविक खेती को सशक्त बनाता है। प्रकृति ने जहाँ फसल को नुकसान देने वाले कीड़े पैदा किए वहीं पर उन नुकसानदेही कीड़ों को खाने वाले मित्र कीट भी दिए हैं। एक छोटा सा उदाहरण लें। कपास की हरी इल्ली जिसे होलीकोवर्पा या अमेरिकन बॉलवार्म कहते हैं, दुनिया का सबसे खतरनाक कीड़ा है। वह 100 से भी ज्यादा फसलों को नुकसान पहुँचाता है। उसे मारने के लिए वैज्ञानिकों ने कई जहरीले कीटनाशक खोजें उनमें केवल डी. डी. टी. ही कारगर साबित हुआ। मगर यह रसायन अत्यन्त जहरीला होने से उसका मानव स्वास्थ्य पर उल्टा असर पड़ा यहाँ तक कि उसके अवशेष मां के दूध में भी पाए गए। अतः मजबूरन उसे बन्द करना पड़ा। उसके बाद तीसरी पीढ़ी के कीटनाशी रसायन पायेरथ्राईडस आए, परंतु उनके भी दुष्परिणाम दिखाई देने लगे। इस हरी इल्ली को नियंत्रित करने के लिए 80 प्रकार के प्राकृतिक कीट मौजूद हैं। जिन्हें मित्र कीट कहते हैं ये परजीवी भी होते हैं और परभक्षी भी होते हैं। परजीवी वे कीट होते हैं जो अपने यजमान कीट पर ही पलते हैं यानी उसका भोजन ले लेते हैं परिणाम स्वरूप यजमान कीट समाप्त हो जाते हैं। पर भक्षी कीट वे होते हैं जो यजमान कीट को सीधे मारकर खा जाते हैं। इन दोनों प्रकार के मित्र कीटों में ट्रायकोग्रामा, क्रायसोपर्ला, ब्रेकॉन, लेडी बर्ड बीटल प्रमुख हैं। इनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है :–

घ २. ट्रायकोग्रामा :

यह ततैय्या कपास की प्रमुख इल्लियाँ (हरी इल्ली, चितकबरी इल्ली, गुलाबी इल्ली), तम्बाकू की इल्ली, रोऐंदार इल्ली, धान पर लगने वाला तनाछेदक, गन्ने पर लगने वाला शीर्ष तना छेदक आदि पर कारगर हैं। धान और गन्ने पर लगने वाले छेदक इल्लियों के नियंत्रण के लिए ट्रायकोग्रामा जपानिकम नाम

की ततैय्या कारगर है। जबकि कपास पर लगने वाली इल्लियों के लिए या अन्य इल्लियों के लिए ट्रायकोग्रामा चिलोनिस असरकारक है। यह ततैय्या ऊपर बताए गए कीटों के अंडों पर बैठती है और शत्रु कीट के अंडे के अंदर अपना अंडा देती है। इस प्रकार ट्रायकोग्रामा मक्खी के अंडे कार्ड पर चिपके रहते हैं। इन कार्डो को ट्रायाकोकार्ड कहते हैं। एक कार्ड पर करीब 18 से 20 या हजार अंडे होते हैं। इन कार्डो के बारीक–बारीक टुकड़े कर उन्हें फसल पर पत्तियों पर चिपका दिया जाता है। 2–4 दिनों में अंडों से फूटकर ट्रायकोग्रामा बाहर निकलती है और अपना काम शुरू कर देती है। ट्रायकोग्रामा मित्र कीट के अंडे से निकली इल्ली शत्रु कीट के अंडे के भ्रूण को खाकर उसे नष्ट कर देती हैं। इस प्रकार एक ट्रायकोग्रामा ततैय्या एक दिन में 50 से 100 अंडे नष्ट कर डालती है। कल्पना कीजिए कि एक मित्र कीट के द्वारा एक दिन में कितने इल्लियों के अंडे खत्म किये जाते हैं।

घ ३. क्रायसोपर्ला

यह एक परभक्षी कीट है जो हरे रंग का होता है। क्रायसोपर्ला मित्र कीट की इल्लियाँ माहू, सफेद मक्खी आदि छोटे कीटों के अण्डों पर पलती हैं। यह तेज चलती है तथा अपने पैने जबड़ों से माहू जैसे नरम शरीर वाले कीटों को पकड़कर उनका रस चूस लेती है। अक्सर कपास के पत्तों पर सुबह–सुबह बालनुमा काली डंड़ियों पर क्रायसोपर्ला के सफेद अण्डे हवा में झुलते दिखाते हैं। क्रायसोपर्ला को ग्रीन लेसविंग हापर भी कहा जाता है। इस मित्र कीट की इल्लियाँ खेत में छोड़ी जाती हैं जो सीधे नुकसान करने वाली इल्लियों को भी खाती है।

घ ४. लेडीबर्ड बीटल

यह मित्र कीट भी जब खेतों में छोड़ा जाता है तब कई हानिकारक कीटों को खा कर नष्ट कर देता है। यह परभक्षी, माहू का प्रमुख शत्रु है। इसकी बनावट खटमल जैसी होकर उस पर लाल काले धब्बे होते हैं। ये अक्सर चवलई खरपतवार पर पलते हैं तथा यह सोयाबीन पर लगी सेमीलूपर इल्ली को खाते हैं।

घ ५. मित्र जीवाणु तथा फफूंद (एन्टेमोफेगस बैक्टिरिया, फंगस)

शत्रु का शत्रु मित्र होता है उस उक्ति के अनुसार जिस तरह प्रकृति ने फसल को खाने वाले शत्रु कीट बनाए तथा उनके नियंत्रण के लिए मित्र कीट दिए उसी प्रकार रोग लगाने वाले शत्रु जीवाणु और शत्रु फफूंद भी फसल को नुकसान पहुँचाते रहते हैं। इनके प्राकृतिक नियंत्रण के लिए मित्र जीवाणु तथा मित्र फफूंद प्रकृति का ही एक भाग थे मगर रासायनिक ताम्र युक्त और गंधक युक्त फफूंदनाशकों के सतत छिड़काव ने प्राकृतिक मित्र जीवाणुओं और मित्र फफूंदो को नष्ट कर दिया। एकीकृत पौध रक्षक प्रबंधन के अन्तर्गत अब प्रयोगशालाओं में व्यापारिक स्तर पर इन मित्र जैविक जीवाणु और फफूंद का निर्माण होता है। कई खतरनाक पौधरोग जैसे उकठा रोग, जड़ सड़न, डेडूं सड़न, सफेद भभुतिया, डालियों का मुरझाना आदि पौधों पर आक्रमण करते हैं। वातावरण में उपस्थित कई मित्र जीवाणु और मित्र फफूंद इन्हें कारगर ढंग से नियंत्रित करते हैं। इनमें ट्रायकोडर्मा विरिडी या ट्रायकोडर्मा हरजियानम, सूडोमोनाज प्रमुख हैं। इसके अलावा

मेटरेझियम, बिवेरिया बासियाना, म्यूकर हिमेलिस, सुडोमोनास, वर्टिसिलियम लेकानी तथा ग्लायकोडियम प्रमुख हैं। ये मित्र फफूंद तथा जीवाणु कपास पर लगने वाले डेंडू का रस चूसने वाले कीड़े, सफेद मक्खी, जमीन में जड़ खाने वाली सफेद लट, गन्ने की पत्तियों से रस चूसने वाला पायरिला, कई फसलों को तबाह करने वाली रोंएदार इल्लियाँ, सब्जियों पर आक्रमण करने वाले कीटों की नसों में प्रवेश कर और अपने शरीर से जहरीले तत्व छोड उन्हें नष्ट कर देते हैं। **एन. पी. वायरस** – वैज्ञानिकों ने विषाणु ग्रसित इल्लियों के शरीर से निकले विषाणुओं (वायरस) की भी खोज की है जो उन्ही इल्लियों को जीवित अवस्था में खत्म करने की क्षमता रखती है। ऐसी इल्लियों को खेतों से पकड़कर या प्रयोगशाला में कृत्रिम भोजन से पाल पोसकर बाद में उन्हें विषाणु खिलाकर विषाक्त बनाया जाता है और उनके शरीर में फैले हुए विषाणु पीसकर उसे पानी में घोलकर फसल पर इल्लियों के नियंत्रण के लिए छिड़का जाता है। वर्तमान में हरी इल्ली और तम्बाकू की इल्ली के विषाणु व्यापारिक स्तर पर उपलब्ध हैं। इन विषाणुओं को एन. पी. वी. (न्यूक्लियर पोली हेड्रोसिस वायरस) कहा जाता है।

घ ६. फिरोमोन ट्रेप्स :-

जीवित प्राणी अपने शरीर से प्राकृतिक गन्ध छोड़ते हैं जो स्वजातीय प्राणी को यौन क्रीड़ा के लिए आकर्षित करते हैं जिन्हें फिरोमोन गन्ध कहते हैं। ऐसी गंध कीड़ों में भी पाई जाती हैं। वैज्ञानिकों ने ऐसे गंध रसायन कृत्रिम तरीके से तैयार किए। इस रसायन को रबर के छोटे टुकड़ों में भरकर प्लास्टिक के पिंजरों में लगाकर खेत में फसल के बीच खड़ा कर दिया जाता है। रसायन की गन्ध से आकर्षित होकर उड़ने वाले नर कीड़े यौन क्रीड़ा के लिए मादा की ओर खिंचे चले आते हैं मगर पिंजरे में फंस जाते हैं तथा मादा के पास नहीं पहुँच पाते हैं। इस तरह समागम से वंचित मादाएँ अंडे नहीं दे पातीं और समाप्त हो जाती है। इन पिंजरों को फिरोमोन ट्रेप्स कहते हैं और रबर के जिन टुकड़ों में यह रसायन भरकर लगाया जाता हैं उन्हें सेप्टा कहते हैं। उनका असर 20–25 दिनों तक रहता है। फिरोमोन ट्रेप कीड़ों के आक्रमण की तीव्रता का भी पता लगाते हैं और कीट नियंत्रण भी करते हैं। एक एकड़ में निगरानी के लिए 1 और नर कीड़ों को पकड़ने हेतू 4 ट्रेप लगाते हैं। फिलहाल फिरोमोनट्रेप कपास के डेडू छेदक इल्ली धान, गन्ना, सोयाबीन, सब्जियों आदि फसलों के नरों को पकड़ने के लिए ही भारत में उपलब्ध है।

फिरोमोन ट्रेप्स को खेतों के लगाते समय निम्नलिखित हिदायतों का पालन जरूरी है :–

1) एक सेप्टा 20–24 दिनों तक कारगर रहता है उसके बाद उसे बदलकर दूसरा सेप्टा लगाना चाहिए।
2) ट्रेप में पकड़े गए नर कीटों को प्लास्टिक की थैली भर जाने के बाद बाहर निकालकर नष्ट कर देना चाहिए।
3) अलग–अलग कीटों के लिए अलग अलग ट्रेप और सेप्टा लगते हैं। उदाहरणार्थ कपास की चार प्रकार की इल्लियों के लिए चार ट्रेप और उनमें चार सेप्टा लगाए जाने चाहिए यानी हरी इल्ली के लिए अलग चितेदार इल्ली के लिए अलग, गुलाबी इल्ली के लिए अलग और तम्बाकू की इल्ली के लिए अलग।
4) सेप्टा को हाथ में लेते समय हाथ साफ धुले हों। उसमें बीड़ी, तम्बाखू, प्याज, लहसन आदि की गंध नहीं होनी चाहिए अन्यथा उसमें व्याप्त फिरोमोन रसायन का असर खत्म हो जाएगा।

घ ७. वनस्पतिजन्य कीट नियंत्रक :-

नीम, करंज, बेशरम, धतूरा, मिर्च, लहसून आंकड़ा जैसी कई वनस्पतियों के रस से कीट नियंत्रण किया जा सकता है। इन पत्तियों का काढ़ा भी बनाया जाता है। उसे पानी में घोलकर छिड़काव किया जाता है। नीम से बने कीटनाशकों तथा कई अन्य जैविक कीटनाशकों पर केन्द्र सरकार का सी. आय. बी. (सेंट्रल इनसेक्टी साईड बोर्ड) का पंजीकरण जरूरी है।

किसान यदि कृषि रसायनों का मोह छोड़ता है तो ऊपर बताए जैविक कीट नियंत्रकों से वह सफल तथा लाभकारी खेती कर सकता है।

च. शहरी सामुदायिक खेती

घरों सें रोज निकलने वाला कूड़ा करकट और झूठन इकट्ठा करके उससे खाद बनाया जा सकता है। मुंबई के डॉ. आर. टी. दोशी ने बहुमंजिला मकानों में रहने वालों के लिए शहरी सामुदायिक खेती की योजना तैयार की है। उन्होंने इसके लिए 200 लीटर क्षमता वाले लोहे के ड्रम में अनेक गोलाकार बड़े–बड़े छेद बनाए। ड्रम में कचरा, झूठन उसमें डालकर छेद में टमाटर, बैंगन, भिंडी जैसी सब्जियों के पौधे रोप दिए। डॉ. दोशी को इस ड्रम का पेटेंट भी प्राप्त है। इसमें दो फायदे हैं। कूड़ा–करकट की समस्या का निदान और घर बैठे सब्जियों की प्राप्ति।

जैविक या प्राकृतिक खेती से उत्पन्न अनाज, फल, सब्जियों की अब बड़े शहरों में और विदेशों में मांग बढ़ रही है क्योंकि खेतों से प्राप्त अनाज और सब्जियाँ विषैली और बेस्वाद होती जा रही है।

विश्व खाद्य संगठन की आधिकारिक जानकारी के अनुसार भारत में आज जो अनाज खाया जाता है उसमें हमारे शरीर द्वारा पचाए जाने की क्षमता से 20 गुना अधिक जहर मौजूद है। इसी प्रकार रासायनिक उर्वरकों से नदी, नालों, पोखर, तालाब और कुओं के पानी में नाईट्राईट जैसे हानिकारक रसायन खतरे के स्तर तक पहुँच चुके हैं।

शहरी खेती में छत पर, बालकनी या गमलों में घरों में निकलने वाले कूड़ा–करकट और झूठन को गोबर और मिट्टी में गलाकर, पकाकर उसका खाद बनाकर उसमें सब्जियां, फल–फूलों के पेड़ पौधे लगाए जा सकते हैं।

हमारी खेती से जुड़े कृषि अनुसंधान और शिक्षा

इससे पहले हमने पुरातनकाल से लेकर कल आने वाली खेती को विस्तार से देखा। पहली और आज की खेती में मूलभूत फर्क यह है कि पहले खेती एक व्यवसाय और जीवनयापन का जरिया थी, अब व्यापार हो गई है। पहले खेतों से उत्पन्न सामग्री आपस में ही बंट जाती थी, अधिकतर ऐसा होता था कि कपास के बदले अनाज, या अनाज के बदले बर्तन, लकड़ी या अन्य चीजें, मिल जाती थी लेकिन व्यापारीकरण ने खेती की परिभाषा ही बदल दी है। अब खेती अधिक उपज, अधिक लाभ के लिए की जाती है। उपज की गुणवत्ता, कोई माने नहीं रखती। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणों, गॅट करार जैसे हथियारों ने पेटेण्ट और नई खोज के स्वामित्व के कारण खेती के आयाम बदल गए हैं। आज हम खेती करते हैं तो हजारों मिल दूर किसी देश के लोगों के लिए। पहले खेती का ज्ञान परम्परागत था। किसान का बेटा भले ही आज शिक्षित हो गया हो मगर वह घर की परम्परा तोड़कर खेती करने में शर्म महसूस करता हैं। तो क्या उसे पाठशाला में, विद्यालयों में मिला ज्ञान पारम्परिक ज्ञान से अलग हैं ? क्या वहां उसे सक्षम रूप से किसान बनाने लायक शिक्षा मिलती है ? किसान का बेटा कृषि पाठशाला एवं महाविद्यालयों में पढ़कर अपने पिता से अच्छी खेती कर सकता हैं ? यदि नहीं तो क्या कृषि महाविद्यालयों को शिक्षा के स्तरों के बारे मे सोचना नहीं चाहिए ?

कृषि विषय की तीन प्रमुख शाखाएं मानी जाती है कृषि शिक्षा, कृषि अनुसंधान और कृषि प्रसार विज्ञान। इनमें से कृषि शिक्षा और कृषि अनुसंधान कृषि विश्वविद्यालयों से जुड़े हैं जो अमेरिका के लेण्ड ग्राण्ट कॉलेज की तर्ज पर भारत के हर प्रांत में खोले गए हैं। महाराष्ट्र राज्य में तो 4 कृषि विश्वविद्यालय हैं। खेती में कृषि जलवायु का बहुत महत्व है। क्योंकि फसलों का चयन कृषि जलवायु पर ही आधारित होता है। इसी आधार पर कृषि प्रशासन की सीमाएँ तय होती हैं जिसके अन्तर्गत सम्भाग जिले और विकास खण्डों के अधिकारी और कार्यकर्ता कृषि अनुसंधान को प्रयोगशाला से खेतों तक ले जाते हैं। एक बड़ा अमला सतत इस काम में लगा रहता हैं। हर प्रदेश में एक कृषि संचालनालय होता हैं जो प्रदेश की राजधानी में (अपवाद महाराष्ट्र) रहता हैं। प्रादेशिक स्तर पर कृषि मंत्रालय के सचिवालय में कृषि सचिव और कृषि उत्पादन आयुक्त तथा संचालक कृषि मिल जुलकर केन्द्र शासन द्वारा निर्धारित नीति पर खरीफ और रबी उत्पादन का कार्यक्रम तय करते हैं। केन्द्र तथा राज्य शासन द्वारा प्रस्तावित वित्तीय संसाधनों से पैदावार बढ़ाने और ग्रामीण विकास द्वारा किसान को सम्पन्न बनाने के कार्यक्रम चलाए जाते हैं। किसानों को तकाबी अनुदान तथा प्राकृतिक विपदाओं में हर संभव मदद कार्य के लिए हर राज्य में वित्तीय प्रावधान रहता है। इन कार्यक्रमों में कृषि विश्वविद्यालयों की मदद ली जाती है। विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिक समय – समय पर साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक बैठकों द्वारा कृषि विभाग के मैदानी कार्यकर्ताओं को कृषि विज्ञान की नई उपलब्धियों पर प्रशिक्षित करते हैं। उनकी समस्याओं का समाधान करते हैं तथा कृषकों का चयन कर उन्हें कृषि विज्ञान के नए सोपान सिखाए जाते हैं ताकि वे अपने क्षेत्रों में जाकर अपनी भाषा में वही बात किसानों को बताए।

कृषि विभाग का इतना बड़ा अमला प्रशासनिक अधिकारियों के निर्देशन पर चलता हैं क्योंकि मंत्रालय

का सीधा सम्पर्क कृषि विभाग के मैदानी कार्यकताओं से कम ही रहता है, जबकी उनका नियमित सम्पर्क सचिवालय से रहता हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कन्वेयर बेल्ट की तरह ऊपर से निर्देशित की गई बातें तो नीचे तक पहुंचती हैं लेकिन मैदानी कार्यकर्त्ताओं की व्यावहारिक कठिनाइयाँ ऊपर तक कम ही पहुंचती हैं। इसी कारण वे मैदानी कार्यकर्ता जो सचमुच अच्छा काम कर रहे हैं, और वे उपेक्षित महसूस करते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी कभी कभी ऐसा लगता है कि अंग्रेजी राज्य अभी भी कायम है। क्या कहा जा रहा है इससे ज्यादा कौन कह रहा हैं इसका शासकीय व्यवस्था में ज्यादा महत्व रहता हैं क्या यह स्वस्थ परम्परा है, ? शायद नहीं। तो क्या इसे बदला नहीं जाना चाहिए ?

इन मुद्दों को ध्यान में रखते हुए देश में कृषि शिक्षा और अनुसंधान की सर्वोच्च संस्था भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के प्रमुख महानिदेशक डॉ. पंजाब सिंह को एक पत्र लिखा गया जिसकी एक–एक प्रतिलिपि भारत के सभी कृषि विश्वविद्यालय के कुलपतियों को भेजी गई। उद्देश्य यह था कि इस विषय पर राष्ट्रीय बहस हो। लेकिन अफसोस की बात यह रही कि मात्र 3 महानुभावों ने ही इस महत्वपूर्ण विषय में रुचि ली। पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय के कुलपति ने पत्र का उत्तर दिया। दूसरा पत्र अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी से प्राप्त हुआ तथा तीसरा पत्र प्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक डॉ. एम. वी. राव से प्राप्त हुआ।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि डॉ. पंजाब सिंह ने न केवल मेरी जिज्ञासाओं को पढ़ा और समझा वरन उन्होंने उठाए गए मुद्दों में रुचि भी दिखाई। डॉ. पंजाब सिंह के साथ मेरा पत्राचार ज्यों का त्यों प्रस्तुत है।

मेरे अंग्रेजी पत्र का हिन्दी अनुवाद

इन्दौर दिनांक 11.07.2002

प्रति,
डॉ. पंजाब सिंह
महानिदेशक तथा सचिव
भारत शासन
कृषि अनुसंधान तथा शिक्षा विभाग
कृषि भवन, नई दिल्ली

विषय – कृषि अनुसंधान एवं शिक्षा पर मेरी जिज्ञासाएँ।

प्रिय डॉ. सिंह

सन् 1964 में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से कृषि वनस्पति शास्त्र में स्नातकोत्तर पदवी प्राप्त करने के तुरंत बाद मेरी कृषि विषय पर पढ़ाई सही मायने में प्रारंभ हुई, जो आज भी बरकरार है। सन् 1986 में यानी लगभग 16 वर्ष पूर्व पौधे और वृक्षों पर लिखी कुछ पुस्तकें मेरे हाथ लगी जिनका मेरे पाठ्यक्रम में नाम भी नहीं था। उन्हें पढ़ने के बाद मेरी क्षुधा और बढ़ी। ये भूख मुझे धूप में अपनी चमड़ी सकते कई हलधरों के पास ले गई। कृषि तथा तत्सम विषयों से जुड़े कई सामाजिक संस्थाओं को पास से देखने और समझने का मुझे मौका मिला। मुझे शर्म महसूस हुई कि मैंने जो ज्ञान कृषि विश्वविद्यालयों में पाया वह

कितना खोखला और आज की कृषि में कितना गैरमौजूद है।

महोदय, आप भारतीय कृषि अनुसंधान एवं शिक्षण की शीर्षस्थ संस्था के प्रमुख हैं। मैं अपनी जिज्ञासाएँ तथा शंकाएँ आपके सन्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ यह सोचकर कि आप उनका समाधान करेंगे।

1) क्या यह सच है कि प्रकृति ही विज्ञान है। नभ, जल, थल, ऊर्जा तथा वायु उस अदृष्य शक्ति द्वारा निर्मित है जिसे भोली – भाली जनता भगवान कह कर पुकारती है ? और क्या यह भी कि विज्ञान भगवान की देन है तथा प्रौद्योगिकी मानव की ?
2) अगर यह सही है तो हम जिन्हें वैज्ञानिक कहते हैं खासकर कृषि वैज्ञानिक उन्हें तो प्रकृति के नजदीक रहना चाहिए। अगर आप देखने की कोशिश करें तो पाएंगे कि फसलें प्रकृति की संतानें है – प्रौद्योगिकी की नहीं। लेकिन ठीक इस मान्यता के विपरीत हमारे वैज्ञानिक मानव निर्मित प्रौद्योगिकी के पीछे क्यों भागते हैं ?
3) जल, मिट्टी, ऊर्जा तथा अंतरिक्ष जैसे प्राथमिक विषयों पर हमारे कृषि विश्वविद्यालयों में कितना अनुसंधान होता है ? ऐसा क्योंकि हमारे कीटशास्त्री, पौध रोग शास्त्री तथा कृषि शास्त्री प्रौद्योगिकी पर आधारित कृषि रसायनों और पौध रक्षक रसायनों पर ज्यादा अनुसंधान करते हैं ? जैविक तथा वानस्पतिक पौध रक्षकों पर क्यों नहीं ? हमारे कृषि विश्वविद्यालयों में तितलियों, मधुमक्खी, और पक्षीयों पर अनुंसधान क्यों नहीं होता, जो इस ब्रम्हाण्ड तथा पर्यावरणप्रिय खेती के ही हिस्से हैं?
4) हमारे पाठ्यक्रमों में डॉ. वॉशिंगटन कार्वर, सॅनं मासानोबू फुकुओका तथा भारतीय संदर्भ में डॉ. जे. सी. बोस, डॉ. खानखोजे तथा प्रो. दाभोलकर क्यों नहीं हैं ? कार्वर ने तो मूंगफली फसल से पेंट, वार्निश, मक्खन, घी, जैसे उत्पाद निकलाकर खेती और उद्योगों को नई दिशा दी ?
5) वृक्षार्युवेद, हिरण्यार्युवेद, कृषि पाराशर जैसे प्राचीन ग्रंथ जिनमें वनस्पतियों तथा जड़ी–बूटियों पर विशाल ज्ञान भरा पड़ा है हमारे कृषि पाठ्यक्रम के विषय क्यों नहीं हो सकते ?
6) आज खनिज तेलों की, चलित वाहनों की भरमार के कारण बाढ़ सी आई हुई है जबकि कई वृक्ष हैं जो इन तेलों की खानापूर्ति कर सकते हैं उन पर अनुसंधान क्यों नहीं होता ? हमारे यहाँ गावों में बैलगाड़ियों में मूंगफली, तिल, अरंडी तथा अलसी के तेलों का उपयोग होता था। आज खनिज तेल 100/– रूपये लीटर बिक रहे हैं, और किसान वानस्पतिक तेलों का उत्पादक होकर भी कंगाल है।
7) वैश्वीकरण के कारण देश एक–दूसरे के नजदीक आ रहे हैं। कृषि उत्पादक व्यापार प्रबंधन पर हमारे यहाँ कितना काम हुआ है ?
8) और अंत में लेकिन अनंत महत्वों वाला प्रश्न–यदि भारत सही मायने में कृषि प्रधान देश है तो कृषि शिक्षा को उतना महत्व क्यों नहीं दिया जाता जितना यांत्रिकी तथा चिकित्सा शिक्षा को ?

महोदय क्षमा करें आपकी व्यस्तता का पूरा अहसास होते हुए भी यह प्रश्न मैं पूछ रहा हूँ आपकी ओर से सकारात्मक उत्तर की अपेक्षा में।

आपका नम्र
अरुण डिके

इस पत्र का डॉ. पंजाबसिंह ने यों उत्तर दिया

9 सितम्बर 2002
नई दिल्ली

प्रियश्री डिके,

आपके 11 जुलाई के पत्र के लिए धन्यवाद। इसका मैं शीघ्र जवाब नहीं दे सका क्योंकि मुझे आपका मूल पत्र मिला नहीं। यह उत्तर तो मैंने श्री टी. जी. के मेनन के पास उपलब्ध आपके पत्र की प्रतिलिपि पर लिखा है, जब मैं इन्दौर में था। आपने अपने पत्र में उठाये मुद्दों की मैं सराहना करता हूँ। क्योंकि वे महत्वपूर्ण हैं और प्रासंगिक भी। इसका मतलब तो यही हुआ कि हमने विविधता, जल संग्रहण तथा फसल उत्पादन पद्धति में जो गलतियाँ की हैं, उसे सुधारने का प्रयास करना। संसाधान, उत्पादन पद्धतियां तथा पर्यावरण के कुप्रबंधन सचमुच चिंताजनक है। अच्छा हुआ जो आपने चिंता व्यक्त की। हमें प्रौद्योगिकी और प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन में सामंजस्य निर्माण करना होगा ताकि हम निर्धारित फसल जलवायु क्षेत्रों में चिरंजीवी उत्पादन पद्धति विकसित कर सकें। हमें जल, वायु , जीवांश, वनस्पति, पशु पक्षी तथा सम्पूर्ण मानव जाति का संरक्षण करना है। मैं जानता हूँ यह कहना आसान है मगर करना कठिन है लेकिन हमारे पास इसके अलावा कोई चारा भी नहीं है। विश्व व्यापार संगठन, बौद्धिक संपदा अधिकार, सफाई तथा पादप सफाई, जैव सुरक्षा पर्यावरणीय मुद्दे, परिस्थितिकीय मुद्दे तथा व्यापार अधिनियम तथा मापदंड शायद हमें प्राकृतिक संसाधनों के खिलाफ चेतावनी दे रहे हैं, जो सीमित है। यह बताना जरूरी नहीं है कि भारतीय आबादी कृषि पर निर्भर है और हमें इस बात की कोशिश करना चाहिए कि उत्पादन पद्धतियाँ सस्ती, सुलभ तथा चिरंजीवी हो और प्रकृति तथा प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा करने वाली हो।

आपसे विस्तृत जाणकारी अपेक्षित है।

डॉ. पंजाब सिंह

इस पत्र का मैंने जवाब भेजा जो निम्नानुसार है।

प्रति,
डॉ. पंजाब सिंह
महा निदेशक तथा सचिव, भारत सरकार
कृषि अनुसंधान तथा शिक्षा विभाग
कृषि मंत्रालय, कृषि भवन
नई दिल्ली – 110001

दिनांक : 21.09.2002

प्रिय डॉ. सिंह

आपके 9 सितम्बर के पत्र के लिए आपको दुगुना धन्यवाद। पहला इसलिए कि आपके व्यस्ततम कार्यक्रमों के बीच समय निकालकर आपने मेरे 11 जुलाई के पत्र का जवाब दिया। दूसरा धन्यवाद इसलिए कि मुझसे मेरे पत्र का विस्तृत ब्यौरा मांगकर आपने मेरे पत्र में रुचि दिखाई।

आप मेरा यह पत्र हिन्दी में लिखा देखकर आश्चर्य कर रहे होंगे कि पहला खत मैंने अंग्रेजी में लिखा और यह हिन्दी में क्यों ? पहला पत्र मैंने अंग्रेजी में इसलिए लिखा ताकि भारत के सभी कृषि विश्वविद्यालयों के सम्माननीय कुलपति मेरा पत्र पढ़ें तथा उस पर एक राष्ट्रीय बहस हो। यह पत्र मैं जान–बूझकर हिन्दी में इसलिए लिख रहा हूँ कि अधिकारपूर्वक आपसे एक वचन मांग सकूँ। आप चूंकि हमारे कुलपति रह चुके हैं, समय निकालकर आपने मेरी राऊ (इन्दौर) में प्रयोगशाला देखी और मेरी "जैविक खेती के प्रमुख सूत्र" पुस्तक की प्रस्तावना लिखी तो इतना साहस तो कर ही सकता हूँ। कम से कम आप कोशिश करें यह मेरी हार्दिक इच्छा है।

वचन यह मांग रहा हूँ कि भविष्य में आप कृषि शिक्षा और अनुसंधान का पूरा कार्य हिन्दी भाषा में सख्ती से प्रारंभ कराएँ। आपके पत्र, आपके रिपोर्ट्स, आपकी पुस्तकें हिन्दी भाषा में प्रारंभ करें। यदि मैंने गलत नहीं सूना हो तो आप निकट भविष्य में सेवा निवृत्त हो रहे हैं। मेरी दिली तमन्ना है कि आप अपने अधिकार सूत्र नीचे रखें इसके पूर्व आपके नाम पर यह दर्ज हो जाना चाहिए कि हिन्दी के कामकाज का प्रारंभ डॉ. पंजाब सिंह के कार्यकाल में प्रारंभ हुआ।

डॉ. सिंह, पिछले पन्द्रह वर्षों के मेरे जैविक खेती के अध्ययन ने मुझे सिखाया कि खेती में भी हमारा देश कितना महान है। हमारे ऊर्जावान और बुद्धिमान किसान (किसी भी वैज्ञानिक से कम नहीं) गांव–गांव में हजारों की तादाद में फैले काम कर रहे हैं, भले ही उनके पास वैज्ञानिक शब्दकोष न हो मगर वैज्ञानिक दृष्टि जरूर है। यदि कोई यह कहता है कि हमारे देश से ब्रेन ड्रेन होकर अमेरिका गया है सरासर गलत है। हमारा ब्रेन गेन हुआ है। यदि इस ऊर्जावन लोगों को कृषि के वर्तमान अनुसंधान से जोड़ना है तो आपकी भाषा हिन्दी में हो (या अन्य भारतीय भाषा में) यह निहायत जरूरी है। कृपया इस पर गंभीरता से सोचें ?

दूसरा आपने मुझे मेरे पत्र के बारे में विस्तार से बात चाही है तो संक्षिप्त में मैं आपनी बात यूं रखना चाहूँगा।

1) रासायनिक खेती ने हमारे प्राकृतिक संसाधनों को तहस – नहस किया है। जब तक हमारे विद्यार्थी यह नहीं समझते हैं कि वे संसाधान क्या हैं ? क्यों जरूरी हैं ? कैसे मददगार हैं ? तब तक उन्हें यह नहीं समझ में आ सकता है कि नुकसान क्या और कितना हुआ है ?

2) खेती और उद्योग के आपसी रिश्ते क्या हो ? हमने प्राकृतिक खेती छोड़ सोयाबीन जैसी औद्योगिक फसल हाथ में ली, नतीजा सामने है। डॉ. कार्वर ने केवल मूंगफली से पेंट, वार्निश सहित 300 औद्योगिक पदार्थ अमेरिका को दिए शकरकंद से कागज, कपड़ा बनाना सिखाया था। प्रो. दाभोलकर जी ने कम भूमि में, कम पानी में खेती करने का गणित सिखाया। बगैर मिट्टी के बायोमास में पेड़ लगाकर बताया, शहरी (City) खेती सिखाकर लोगों को आत्म निर्भरता के गुरुमंत्र दिये।
3) विभिन्न वनस्पतियों से कागज, औषधी, पौधरक्षक घोल, बांस से सस्ते घर और बांध कैसे बन सकते हैं इन चीजों का ज्ञान कृषि स्नातकों को होना जरूरी है।
4) ग्रामीण अर्थव्यवस्था क्या है ? खेती से जुड़े अन्य व्यवसाय क्या हो सकते हैं ? ग्रामीण पर्यटन कैसे विकसित हो सकता है ? गाँवों में साप्ताहिक हाट लगते हैं उन्हें विज्ञान से कैसे जोड़ा जा सकता है ? शहरी निवेश बढ़ाकर शहरी उपभोक्ताओं को ग्राहक आंदोलन से जोड़ कर कैसे ग्रामीण अर्थ व्यवस्था मजबूत की जा सकती है ? कृषि प्रशासकीय व्यवस्था क्या हो सकती है ?
5) जैव ऊर्जा क्या है ? जैव वायु क्या है ? जैव वायु ऊर्जा संयत्र कैसे बनाए जा सकते हैं ? कृषि उत्पादन कैसे निर्यात किया जा सकता है ?

ऐसे कई मुद्दे हैं जिन पर राष्ट्रीय सोच होकर कृषि शिक्षा के नए पाठ्यक्रम बनाए जा सकते हैं। इस पर कृपया विचार करें। आपको पत्र के लिए पुनः धन्यवाद।

आपका नम्र

अरुण डिके

मेमो नं. लायब्रेरी अक्वा/2002/7318 दिनांक 11.09.2002

प्रति,

श्री अरुण डिके

53/बी, प्रेम नगर, इन्दौर 452002

द्वारा – विश्वविद्यालयीन ग्रन्थपाल, चौ. च. सिंह कृ. वि.

महोदय,

यह समझा जा रहा है कि आपने भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के महानिदेशक को वृक्षों और पौधों पर डॉ. जार्ज वाशिंगटन कार्वर और वनस्पतिशास्त्र तथा पौध कायिक विषय पर डॉ. जे. सी. बोस द्वारा लिखी पुस्तकों का उल्लेख किया है। हमारे यहाँ उपलब्ध ग्रन्थ सूची में उनके नाम नहीं हैं। हम आपके ऋणी होंगे यदि हमारे ग्रन्थालय के लिए आप उनके द्वारा लिखी गई पुस्तकों की फेहरिस्त भेज सकें। उसी तरह निम्नलिखित पुस्तकों के लेखकों के नाम भेजने की कृपा करें।

1. वृक्षायुर्वेद
2. हिरण्यायुर्वेद
3. कृषि पाराशर

पत्र का शीघ्र उत्तर प्रार्थनीय हैं। धन्यवाद

आपका आज्ञाकारी

उप ग्रन्थपाल

एक पत्र प्रो. रणवीर सिंह अधिष्ठाता कृषि महाविद्यालय गोविन्दवल्लभ पन्त युनिवर्सिटी ऑफ एग्रीकल्चर एण्ड टेक्नालॉजी पन्तनगर 263–145 जि. यु. एस. नगर उत्तरांचल, भारत से प्राप्त हुआ।

न. सी. ए./पी.ए./268
दि. 23 सितम्बर 2002

डॉ. अरुण डिके
53, बी. प्रेमनगर
इन्दौर 452 007

विषय :– कृषि अनुसन्धान पर मेरी जिज्ञासा।

प्रिय डॉ. डिके कृपया भारतीय अनुसन्धान परिषद के महानिदेशक को लिखे आपके पत्र का अवलोकन करें, जिसकी एक प्रतिलिपि आपने उपरोक्त विषय पर इस विश्वविद्यालय को भेजी है। आपने चाही जानकारी इस पत्र के साथ संलग्न है ताकि आपकी ओर से कोई इस पर कार्यवाही हो सकें।

सादर,

आपका विश्वासु
सही (रणवीर सिंह)
23/09/2002

आपके प्रश्न

प्रश्न 1. क्या यह सही है कि प्रकृति ही विज्ञान है। नभ, जल, थल, ऊर्जा तथा वायु एक अदृश्य शक्ति द्वारा निर्मित है, जिसे भोली–भाली जनता भवन कह कर पुकारती है। और क्या यह भी कि विज्ञान भगवान की देन है तथा प्रौद्योगिकी मानव की ?

उत्तर प्रकृति (नभ, जल, थल, वायु और अग्नि) को विज्ञान कह सकते हैं। प्रकृति के बाहर कुछ भी नहीं है और मानव ने प्राकृतिक उपहार हमेशा पूजा है।

प्रश्न 2 अगर यह सही है तो हम जिन्हें वैज्ञानिक कहते हैं, खासकर कृषि वैज्ञानिक उन्हें तो प्रकृति के नजदीक रहना चाहिए अगर आप देखने की कोशिश करें तो पाएंगे कि फसलें प्रकृति की सन्तान हैं, प्रौद्योगिकी की नहीं, लेकिन ठीक इसके मान्यता के विपरीत हमारे वैज्ञानिक मानव निर्मित प्रौद्योगिकी के पीछे क्यों भागते हैं?

उत्तर मानव प्रकृति का ही एक भाग है। इसलिए वैज्ञानिकों ने ही मानव होने के नाते सचमुच प्रकृति के नजदीक होना चाहिए।

प्रश्न 3 जल, मिट्टी, ऊर्जा तथा अन्तरिक्ष जैसे प्राथमिक विषयों पर हमारे कृषि विश्वविद्यालयों में कितना अनुसंधान होता है ? ऐसा क्यों कि हमारे कीटशास्त्री पौध रोग शास्त्री तथा कृषिशास्त्री प्रौद्योगिकी पर आधारित कृषि रसायनों और पौध रक्षक रसायनों पर ज्यादा अनुसंधान करते हैं। जैविक तथा वानस्पतिक पौध रक्षकों पर क्यूं नहीं ? हमारे कृषि विश्वविद्यालयों में तितलियों, मधुमक्खियों और पक्षियों पर अनुसंधान क्यों नहीं होता जो इस ब्रह्माण्ड तथा पर्यावरण प्रिय खेती के ही हिस्से हैं ?

उत्तर जल, भूमि तथा अन्तरिक्ष (जमीन के पास) पर फसल, वृक्ष और पशुओं पर काफी अनुसंधान हुआ है। अभी–अभी पौध रोग और कीटों के जैविक नियंत्रण पर काफी अनुसंधान हुआ हैं तथा पर्यावरण संरक्षण के लिए विश्वविद्यालयों में काफी काम हो रहे हैं।

प्रश्न 4 हमारे पाठ्यक्रमों में डॉ. जार्ज वाशिंगटन कार्वर, सैन मासानोबू, फुकुओंका तथा भारतीय सन्दर्भ में, डॉ. जे.सी. बोस, डॉ. खानखोजे तथा प्रोफेसर दाभोलकर क्यों नहीं हैं। खासकर कार्वर ने तो मूंगफली फसल से पेण्ट, वार्निश, मक्खन, घी जैसे उत्पाद निकालकर खेती और उद्योगों को नई दिशा दी ?

उत्तर नहीं है।

प्रश्न 5 वृक्षायुर्वेद, हिरण्यायुर्वेद, कृषि पाराशर जैसे प्राचीन ग्रंथ जिनमें वनस्पतियों तथा जड़ीबूटियों पर विशाल ज्ञान भरा पड़ा हैं। हमारे कृषि पाठ्यक्रम के विषय क्यों नहीं हो सकते ?

उत्तर हमारे प्राचीन ग्रन्थों में जिनमें वेद भी शामिल हैं कृषि और पशुपालन के तौरतरीकों पर काफी कुछ लिखा जा चुका हैं।

आधुनिक उपकरणों के साथ आकाश में व्याप्त नक्षत्रों की स्थिती मौसम और वर्षा के संकेतों पर काफी कुछ काम हो सकता है। वराहमिहिर संहिता तुरन्त होने वाली वर्षा के संकेतों पर काफी कुछ बताती हैं।

हमारे कृषि विश्वविद्यालयों में प्राचीन ग्रंथों का सचमुच अभाव है । यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि विद्यार्थी और वैज्ञानिक वर्तमान संदर्भो में प्राचीन ग्रंथों का अभ्यास कर अपने वैज्ञानिक तथ्यों को मज़बूत करें।

प्राचीन श्रेष्ठ वैज्ञानिक साहित्य जो पाठशालाओं में पढ़ाया जाता रहा है उसे महाविद्यालयों में भी पढ़ाया जाना चाहिए ।

प्रश्न 6 आज खनिज तेलों के चलित वाहनों की भरमार के कारण बाढ़ आई हुई है, जबकि कई वृक्ष हैं जो इन तेलों की खाना पूर्ति कर सकते हैं । उन पर अनुसंधान क्यों नहीं होता ? हमारे यहाँ गाँवों में बैल गाड़ियों के पहियों में मूँगफली, तिल, अरंडी तथा अलसी के तेलों का उपयोग होता था । आज खनिज तेल 100 रू. लीटर बिक रहा है, और हमारा किसान पूंजी विहीन है।

उत्तर पौधे वनस्पतियों, झाड़ियाँ निश्चित ही कृषि पढ़ाई का ही एक भाग है । महुआ, चिवरा, करंज,

रतनजोत जैसे वृक्षों से निकले तेलों पर अनुसंधान हुआ है, ताकि खनिज तेलों का विकल्प निकले। अब समय आ गया है कि हम इन वानस्पतिक तेलों के व्यापार पर भी सोचे।

प्रश्न 7 वैश्वीकरण के बाद देश एक–दूसरे के नजदीक आ रहें हैं। कृषि उत्पाद व्यापार प्रबंधन पर हमारें यहाँ कितना काम हुआ हैं ?

उत्तर कृषि व्यापार संसार का सबसे बड़ा व्यापार है और आंतरिक व्यापार बढ़ना चाहिए। अभी तक कुछ कृषि व्यापार प्रबंधन पाठ्यक्रम शुरू हुए हैं।

प्रश्न 8 और अंत में लेकिन अत्यंत महत्वों वाला प्रश्न। यदि भारत सही मायनों में कृषि प्रधान देश है तो कृषि शिक्षा को उतना महत्व क्यों नहीं दिया जाता जितना यांत्रिकी तथा चिकित्सा शिक्षा को ?

उत्तर कृषि को स्वास्थ्य और यांत्रिकी जैसा ही महत्व दिया जाता है। केवल कृषि में रोजगार के अवसर कम हैं।

तीसरा पत्र ख्यात कृषि वैज्ञानिक डॉ. एम. वी. राव से प्राप्त हुआ है। डॉ. राव राष्ट्रीय कृषि विज्ञान अकादमी के उपाध्यक्ष, भूतपूर्व विशेष सचिव, कृषि भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के विशेष महानिदेशक आंध्रप्रदेश विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष तथा आन्ध्र प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय के कुलपति रह चुके हैं। दरअसल हमारे द्वारा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के महानिदेशक को लिखे पत्र की प्रतिलिपि डॉ. राव को पद्मश्री टी. जी. मेनन की सलाह पर भेजी गई थी और इनका उत्तर भी ज्यों का त्यों नीचे दिया जा रहा है।

संदर्भ : बी. टी. यु/एम. वी. आर./2002/5089 दिनांक 16 सितंबर 2002

प्रिय डॉ. अरुण डिके,

आपका 11 जुलाई 2002 का लिखा पत्र आज 16 सितम्बर 2002 को मिला, जो आपने डॉ. पंजाब सिंह, महानिदेशक भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद को भेजा था। मुझे आशा है महानिदेशक ने आपकी जिज्ञासाओं का सिलसिलेवार जवाब दिया होगा। जहाँ तक मेरा सवाल है मैं अपनी ओर से आपके प्रश्नों का नीचे लिखे मुताबिक प्रश्नवार उत्तर दे रहा हूँ।

आपका प्रश्न क्रमांक 1.

क्या यह सच है कि प्रकृति ही विज्ञान है ? क्या नभ, जल, थल, ऊर्जा तथा वायु उस अदृश्य शक्ति द्वारा निर्मित है जिसे भोली भाली जनता भगवान कह कर पुकारती है ? और क्या यह भी कि विज्ञान भगवान की देन है तथा प्रौद्योगिकी मानव की ?

उत्तर मैं सहमत हूँ।

प्रश्न 2 अगर यह सही है तो हम जिन्हें वैज्ञानिक कहते हैं खासकर कृषि वैज्ञानिक उन्हें तो प्रकृति के नज़दीक रहना चाहिए। अगर आप देखने की कोशिश करें तो पाएंगें कि फसलें प्रकृति की

संतान हैं, प्रौद्योगिकी की नहीं, लेकिन ठीक इसके मान्यता के विपरीत हमारे वैज्ञानिक मानव निर्मित प्रौद्योगिकी के पीछे क्यों भागते हैं?

उत्तर हमारे कृषि वैज्ञानिक प्रकृति के नज़दीक हैं और वे प्रौद्योगिकी पर उत्पादकता और निरंतरता (सस्टेने/बल) बढ़ाने का काम कर रहे हैं । जैसा कि आप जानते हैं आधुनिक कृषि प्रौद्योगिकी आधारित है, अन्यथा बढ़ती जनसंख्या को खिलाने के लिए आप अन्न ही पैदा नहीं कर सकते।

प्रश्न 3 जल, मिट्टी, ऊर्जा तथा अन्तरिक्ष जैसे प्राथमिक विषयों पर हमारे कृषि विश्वविद्यालयों में कितना अनुसंधान होता है ? ऐसा क्यों कि हमारे कीटशास्त्री पौध शास्त्री तथा कृषि शास्त्री प्रौद्योगिकी पर आधारित कृषि रसायनों पर ज्यादा अनुसंधान करते हैं। जैविक तथा वानस्पतिक पौध रक्षकों पर क्यूं नहीं ? हमारे कृषि विश्वविद्यालयों में तितलियों, मधुमक्खियों और पक्षियों पर अनुसंधान क्यों नहीं होता है जो इस ब्रम्हाण्ड तथा पर्यावरण प्रिय खेती के ही हिस्से हैं ?

उत्तर हमारा कृषि पाठ्यक्रम समग्र दृष्टि से सोचता है जो न केवल पौधों और पशुओं का बल्कि भूमि और जल जैसे प्राकृतिक संसाधनों का भी ख्याल रखता है। जैविक पौध रक्षकों तथा जैविक खेती पर भी काम करता है ताकि पौध रक्षक रसायनों पर भार कम हो।

प्रश्न 4 हमारे पाठ्यक्रमों में डॉ. जार्ज वाशिंगटन कार्वन, सन् मासानोबू, फुकुओका तथा भारतीय संदर्भ में, डॉ. जे. सी. बोस, डॉ. खानखोज तथा प्रोफेसर दाभोलकर क्यों नहीं है। खासकर कार्वर ने तो मूंगफली फसल से पेण्ट वार्निश, मक्खन, घी जैसे उत्पाद निकालकर खेती और उद्योगों को नई दिशा दी ?

उत्तर फसल कटाई उपरांत प्रौद्योगिकी पर काफी काम हो रहे हैं तथा जनमानस के लिए काफी उत्पाद बन रहे हैं।

प्रश्न 5 वृक्षायुर्वेद, हिरण्यायुर्वेद, कृषि पाराशर जैसे प्राची ग्रन्थ, जिनमें वनस्पतियों तथा जड़ी–बूटियों पर विशाल ज्ञान भरा पड़ा है, हमारे कृषि पाठ्यक्रम के विषय क्यों नहीं हो सकते ?

उत्तर इस तरह के काफी काम अखिल भारतीय समन्वय योजनाओं में हो रहे हैं, जिनमें औषधी वनस्पति तथा सुगन्धी पुष्पों पर उद्योगों के लिए काम हो रहे हैं ।

प्रश्न 6 आज खनिज तेलों की चलित वाहनों की भरमार के कारण बाढ़ आई हुई है, जबकि कई वृक्ष हैं जो इन तेलों की खाना पूर्ति कर सकते हैं। उन पर अनुसंधान क्यों नहीं होता ? हमारे यहाँ गाँवों में बैल गाड़ियों के पहियों में मूंगफली, तिल, अरंडी तथा अलसी के तेलों का उपयोग होता था । आज खनिज तेल 100 रू. लीटर बिक रहा है औ हमारा किसान पूंजी विहीन है।

उत्तर खनिज तेलों की पूर्ति के लिए जैविक तरीकों से ईंधन प्राप्त करने का काम हुआ है । लेकिन वह योजना महंगी हैं ऐसा सुनने में आया है कि ब्राजील में वानस्पतिक तेलों को पेट्रोल और डीजल में मिलाकर ईंधन की पूर्ति की जा रही है। भारत में इतनी भूमि नहीं है कि व्यापारिक वानस्पतिक तेल उत्पादन किया जा सके, जैसा कि ब्राजील में है ।

प्रश्न 7 वैश्वीकरण के बाद देश एक/दूसरे के नजदीक आ रहे हैं । कृषि उत्पाद व्यापार प्रबंधन पर हमारे यहाँ कितना काम हुआ है ?

उत्तर हमारे पाठ्यक्रमों में हमने विश्व व्यापार करार, वैश्वीकरण और निर्यात को शामिल किया है । इस दिशा में हमने जवान लड़कों की टीम तैयार की है जो इस दिशा में काम करेगी ।

प्रश्न 8 और अंत में लेकिन अत्यंत महत्वों वाला प्रश्न यदि भारत सही मायनों में कृषि प्रधान देश तो कृषि शिक्षा को उतना क्यों नहीं दिया जाता जितना यांत्रिकी तथा चिकित्सा शिक्षा को ?

उत्तर भारत शासन का कृषि की ओर बराबर ध्यान है। सच बात तो यह है कि हमारी राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान प्रणाली पूरे विश्व में सबसे बड़ी और विविधता लिए हुए है ।

आपके प्रश्न दिलचस्प और महत्वपूर्ण हैं और उनका सिलसिलेवार जवाब देना मुश्किल है । मैं आशा करता हूँ कि भारतीय अनुसंधान परिषद के महानिदेशक महोदय की ओर से वे प्राप्त हो गए होंगे ।

मुझे आश्चर्य लग रहा है कि आपका 11 जुलाई 2002 का पत्र मेरे पास 16 सितम्बर तक कैसे पहुँचा।

सादर

डॉ. अरुण डिके
53/बी. प्रेम नगर, इन्दौर

आपका
एम.वी. राव

अध्याय ५

कृषि विभाग

कृषि प्रधान देश होने से भारत का कृषि विभाग बहुत महत्वपूर्ण और जिम्मेदार विभाग माना जाता है मगर इसकी स्थापना की जरूरत अकाल से उपजी है । वैसे भारत सा प्रजातान्त्रिक देश केवल खेती की बदौलत हजारों साल मजबूती से अपनी जगह खड़ा है । इतनी भाषाएँ, परिहास, चाल चलन, रीति रिवाज और धार्मिक मान्यताएँ होने के बावजूद कोई भी भारत पर अपनी मनमानी नहीं लाद सका, उल्टा यहाँ से सीख कर ही गया ।

सन् 1864 में भारत में उड़ीसा और बंगाल में भयानक अकाल पड़ा था । कई लोग काल के मुँह में समा गए। उस समय भारत में अग्रेजी शासन की हुकुमत थी । भारत सरकार ने इग्लैड से रॉयल कमिशन ऑफ एग्रीकल्चर से कृषिरसायन शास्त्री जॉन अगस्तस वोलकेयर को भारत बुलाकर पूरे देश की कृषि प्रणाली और खामियों का सर्वेक्षण करने का जिम्मा सौंपा भारत जॉन अगस्तस वोलकेयर ने पूरे दो सालों तक पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत का दौरा किया, सन् 1866 में अपनी रिपोर्ट में उन्होंने भारत में अलग से कृषि विभाग स्थापना की आवश्यकता पर जोर दिया । सन् 1871 से काफी जद्दों जहद के बाद सन् 1881 में हर प्रांत में इंपिरियल डायरेक्टर ऑफ एग्रीकल्चर की स्थापना प्रारंभ हुई । तब से अधिकतम हर प्रदेश में प्रमुख संचालक कृषि कहलाता है । जॉन वोलकेयर ने सलाह दी थी कि डायरेक्टर एग्रीकल्चर मृदा रसायन शास्त्री होना जरूरी है मगर भारत के कुछ प्रांन्तों में संचालक कृषि शास्त्र का पदवीधर न होते हुए भारतीय प्रशासनिक सेवा से चयन किया हुआ व्यक्ति बनाया गया । इसका यह मतलब हुआ कि भारत में खेती का कोई तकनीकी महत्व नहीं है या जो कृषि तज्ञ हैं वे इस काबिल नहीं है कि प्रदेश की कृषि को गति दे सकें। वैसे भी नए प्रशासनिक ढांचे में कृषि मद में आवंटित की गई राशि अधिकतर जिला पंचायत को सौंपी गई है। दूसरे, खेती के प्रमुख आदान, जैसे खाद, बीज और कीटनाशक दवाइयों का वितरण करने की जिम्मेदारी कृषि उद्योग निगम, विपणन संस्थाए, या बीज निगम को दिए अर्थात् कृषि विभाग का काम केवल देखरेख करना है।

जिला स्तर पर कृषि विभाग प्रमुख उप संचालक कृषि होता है और उसके अन्तर्गत विकास खंड या जनपद पंचायत होती है जिनके अधिकारी सीधे कृषि विभाग से जुड़े होते हैं। उनका काम जिला या तहसील में चल रहे किसानी काम पर नजर रखना होता है। खाद, बीज, कीटनाशक दवाइयाँ की व्यवस्था करना होता है। ऐसा अक्सर होता है कि यदि कहीं फसल पर कीट आक्रमण का प्रकोप हो जाए या रोग की महामारी फैली तो ग्रामीण कृषि विस्तार, अधिकारी से लेकर संचालक कृषि तक जवाबदेही बनती है। उन पर निष्क्रियता के आरोप लगते हैं। यदि कहीं फसल अच्छी होती है या तहसील स्तर पर कोई अच्छा कार्य होता है तो उसका श्रेय दूसरे के खाते में जाता है। ऐसा क्यों ? प्रादेशिक स्तर पर या केन्द्रीय स्तर पर कृषि विकास की परिभाषा तय करते समय कृषि तकनीकी सलाहकारों अहं भूमिका रहती है मगर उनको महत्व नहीं दिया जाता है। अधिकतर फसलवार योजनाओं के प्रारूप कृषि विभाग के अधिकारी ही करते हैं मगर वे हमेशा पर्दे के पीछे ही रहते हैं। बरसों तक डॉ स्वामी नाथन को छोड़कर कृषि सलाहकारों में शायद ही किसी का नाम भारत के कृषि नक्शों पर अंकित हुआ होगा। डॉ. रिछारिया जैसे कर्तव्यनिष्ठ कृषि वैज्ञानिक

हमेशा उपेक्षा का शिकार रहे हैं ।

कुछ वर्षों पूर्व दिल्ली के विज्ञान भवन में आयोजित एकीकृत कीट नियत्रंण या एकीकृत नाशी जीव प्रबंधन पर हुई अखिल भारतीय कार्यशाला में यह देखने में आया कि मंच पर तथा उपस्थित लोगों में भारतीय प्रशासकों का ही बोलबाला था । उस कार्यशाला में महाराष्ट्र के तत्कालीन कृषि आयुक्त ने शासन को सुझाव दिया था कि गाँवों की पाठशालाओं में बच्चों को एकीकृत नाशी जीव प्रबंधन (आय.पी.एम) पढ़ाया जाना चाहिए जिस पर उनकी वाहवाही भी हुई । उस कार्यशाला में भारत शासन के पौध रक्षा सलाहकार को छोड़कर शायद ही किसी कृषि वैज्ञानिक को महत्व मिला हो जबकि कई अन्य प्रादेशिक कृषि संचालक बैठक में उपस्थित थे । उसका यह अर्थ है कि सरकार के पास कृषि विशषज्ञों की कोई योजनाएँ नहीं है या उन्हें एक प्रमुख प्रशासन के अधिकारी से बातचीत में एक बार ऐसा लगा कृषि भवन में बैठे हुए बड़े–बड़े कृषि अधिकारी जो कृषि स्तानक, कृषि स्तानकोतर उपाधि लिए या कृषि में डॉक्टरेट किए हुए हैं वे तथा कथित कृषि वैज्ञानिक हैं। यह बात चुभने , खटकने लायक है। कलेक्टर के सामने जिले के उप संचालक की यदि कोई मान्यता ही नहीं है जबकि वह भी प्रथमश्रेणी का राजपत्रित अधिकारी है तो इतने सारे कृषि विद्यालय खोलने की जरूरत ही क्या है ? क्या उनकी पढ़ाई में इतना दम भी नहीं है कि वह अपने विद्यार्थियों को निडर, निर्भय बनाकर किसानों के हित में बात करने की ताकत दे ? तो क्या पूरी कृषि शिक्षा ही कोरी लफेबाजी के अलावा कुछ भी नहीं है। प्रशासनिक सेवा में शायद ही कोई पद रिक्त रहता है जबकि कृषि विभाग में बरसों संचालक कृषि पद भी प्रभारी संचालक ही चलाता है, मध्यप्रदेश में बरसों तक प्रभारी उपसंचालक कृषि ही काम करते रहते हैं ? यह बात समझ के परे है – यह कृषि स्नातकों की कमजोरी को भी उजागर करती है – एक उच्चस्तरी कृषि संगोष्ठी में दोपहर के भोजन के दौरान एक कृषि विश्वविद्यालय के कुलपति द्वारा प्रदेश के कृषि उत्पादन आयुक्त को अपने हाथो से भोजन परोसते देखा गया। यह घटना मात्र शिष्टाचार नहीं थी बल्कि कुलपती महोदय की भावभंगिमा कुछ और कहानी कह रही थी । क्या शिक्षा संस्थाओं में इतनी गिरावट आ गई है ? क्या डॉ. होमी भाभा, डॉ. विक्रम साराभाई जैसे वैज्ञानिक कृषि विश्वविद्यालयों में होना केवल दिवास्वप्न ही है ? इन और इन जैसे प्रश्नों पर किसान से लेकर सामाजिक कार्यकर्ताओं समाज के अन्य जिम्मेदार व्यक्तियों को सोचना होगा। कृषि शिक्षा और कृषि विश्वविद्यालयों को ज्यादा आत्मनिर्भर, ताकतवर और निडर बनाना पड़ेगा।

अध्याय ६

हमारे बैंक

किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था को मजबूत करने में बैंकों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है जो हमारे देश में भी है। शासन द्वारा मान्यता प्राप्त कई विशाल उद्योगों से लेकर लधु उद्योगों तक को बैंकें धन मुहैया कराती हैं। भारत कृषि प्रधान देश होने से ग्रामीण अर्थ व्यवस्था मजबूत करने के लिए नाबार्ड बैंक की स्थापना हुई, जिसके माध्यम से ग्रामीण इलाकों में कई योजनाएँ स्थापित हुईं। वहाँ पैसा आया और किसान लाभान्वित हुए। ग्रामीणों को फसल से मिले धन को सुरक्षित रखने में भी बैंकों का योगदान रहता है।

इसका मतलब कतई यह नहीं कि बैंकों में सब कुछ ठीक ठाक है । कुछ बैंकों में अधिकारियों की व्यक्तिगत काबिलियत को छोड़ दिया जाए तो बैंक और सक्षम जरूरतमंद ऋण मांगनेवालों के बीच संवाद ही गायब है। ऋण मांगने वाला तो बैंकों के चक्कर मार मार कर परेशान हो जाता है मगर व्यापार बढ़ाने हेतु बैंकों की तरफ से कोई पहल नहीं होती न ही बैंकों के अधिकारी चौकस होकर सक्षम ऋण ग्राहियों को खोजते हैं।

कई बैंकों के कार्यकलापों को नज़दीक से देखने के बाद पता चलता है कि कर्ज लेने वाला किसान जितना जरूरतमंद होता है उतना कर्ज देने वाला नहीं। सही मायनों मे देखा जाय तो कृषि उद्योगों के न पनपने का यही एक मुख्य कारण है। आज आटोमोबाइल इण्डस्ट्री को लेकर मोबाइल्स तक या किसी भी औद्योगिक उत्पादों की ओर ग्राहको को आकर्षित करने के जिनते नुस्खे निकले हैं उनको देखते हुए बैंकों को लगता है अपना व्यापार बढ़ाने की कोई जरूरत महसूस नहीं होती है। हो सकता है विदेशी बैंकों के आने से बैंकों में वह स्पर्धा चालू हो। लेकिन आज स्थिति वैसी नहीं है।

सरकार चाहती है कि बैंकों से धन बाहर निकल और ग्रामीण अर्थ व्यवस्था पनपे मगर हकीकत कुछ और ही बयाँ करती है। ग्रामीण बैंकों ने तो ऋण मुहैया कराया लेकिन शहरी बैंकों में जो आम उदासीनता देखने को मिलती है उसका कोई जवाब नहीं । इसका एक कारण तो यह नजर आता है कि बैंकों के कर्मचारी, सुविधाभोगी कर्मचारियों की श्रेणी में आते हैं। तनख्वाहे मोटी हैं और इनके संगठन इतने मजबूत हैं कि अधिकारी भी कोई कार्यवाही करने के पहले दस बार सोचता है।

दूसरा कारण दिखता है बैंकों को उद्योगों खासकर कृषि प्रौद्योगिकी की तकनीकी जानकारी में कमी। कृषि उद्योग से जुड़े एक उद्योगपति ने बताया कि एक बैंक के वरिष्ठ अधिकरी ने उनसे पूछा कि उन्हें इतना बड़ा ऋण क्यों चाहिए ? उद्योगपति ने पूछा "क्या आपको इसके उत्पादन की तकनीकी जानकारी है ? नहीं" अधिकारी ने कहा।

"फिर मैं आपको कैसे समझाऊँ कि मेरे आवेदन पत्र में दर्शाए गए हर संयंत्र का क्या महत्व है और वह प्रति घण्टे कितना उत्पादन देता है ?" और मुझे इतना ऋण क्यों चाहिए ? उद्योगपति ने कहा।

"लेकिन आप जो उद्योग आरंभ करने जा रहे है वह तो एकदम नया है ।" बैंक अधिकारी ने कहा" इसीलिए तो कह रहा हूँ कि इसकी तकनीकी जानकारी केवल मुझे है" उद्योगपति ने कहा इस सबके बावजूद उसका ऋण मंजूर नहीं हुआ । उद्योगपति भोपाल स्थित उस बैंक के प्रधान कार्यालय में गया वहाँ पर भी यही हाल था । भोजन अवकाश के दौरान उस कार्यालय के प्रधान निरीक्षक को लेकर उद्योगपति चाय पीने गया । निरीक्षक ने उद्योगपति से पूछा कि आपका व्यवसाय दरअसल क्या है ?" आपने अभी जो खाना गया क्या आपको मालूम है उसमें कृषि रसायन का कितना जहर है ?" उद्योगपति ने पूछा "नहीं मालूम" निरीक्षक बोला "अपनी हजम करने की क्षमता से आप 20 गुना ज्यादा जहर खा रहे हैं और मेरा उद्योग इस जहर को खत्म करने का है" उद्योगपति बोला और उसने जो–जो बातें अपने उद्योग के बारे में उस निरीक्षक को बताई वह ध्यान से सुनता

रहा क्यों कि उसकी जिन्दगी दाव पर लगी थी । काफी देर बाद निरीक्षक बोला "मैं समझ गया आपका उद्योग क्या है अब आप निश्चिंत रहें । 8 दिन में आपका प्रस्ताव पास हो जाएगा" और वह हो गया ।

पिछले कुछ वर्षो में हाइटेक एग्रीकल्चर को लेकर जो भ्रांतियाँ फैली हैं उनके चपेटे में कई बैंक आ गई हैं। हाइटेक एग्रीकल्चर आधुनिक कृषि का वह नुस्खा है जो पूरी तरह विदेशों से आयात हुआ है। परंपरागत खेती करने वाले किसानों के बीच हाइटेक एग्रीकल्चर की संरचना पहुँचना बहुत कठिन है। देखा जाए तो टपक सिंचाई पद्धति का हमारे देश में पिछड़ने एकमात्र कारण ही यह है कि अन्य उच्च कृषि आदानों की तरह यह आदान भी शासकीय अनुदानों के कारण गांव गांव गया लेकिन उसकी सही तकनीक गांवों तक नहीं पहुँची । अभी भी हजारों की तादाद में टपक सिंचाई और फव्वारा सिंचाई के साजों सामान किसानों के पास धूल खा रहे हैं। क्योंकि बैंकों के पास हाइटेक कृषि समझने का समय ही नहीं है।

तीसरा, बैंकों की ब्याज दर और ऋण पर बैंकों द्वारा मांगे गए धरोहर (रेहन) इतने अधिक हैं कि ग्राहक के पास उद्योग चलाने और संकट काल के लिए कुछ नहीं बचता । बैंक प्रबंधक अपनी जान बचाने के लिए सभी प्रकार की धरोहर राशि ग्राहक से ले लेता है । यदि बैंक प्रबंधक की शिकायत लेकर आप उच्च अधिकारी के पास पहुचंते हैं तो वह साफ मना कर देता है कि यह ऋण मंजूर करने के पूरे अधिकार तो बैंक प्रबंधक के ही पास है आप उसी के पास जाइए। बेचारा ग्राहक इन दो हस्तियों के बीच झूलता रहता है । बैंक प्रबंधक के पास ऋण नामंजूर करने के दस कारण हैं मगर उन्होने ऐसा क्यों किया यह पूछने का कोई अधिकार ग्राहक के पास नहीं है । एक उद्योगपति ने तो सीधे भारत सरकार के वित्तमंत्री को शिकायत लिखकर भेजी। उनसे प्रत्यक्ष मिलकर उन्हें बताया कि किस प्रकार मेरे उद्योग को ऋण मना करके आप देश से निर्यात बढ़ाने के बजाए घटा रहें हैं। उनका ऋण धरोहर राशि को लेकर ही मंजूर नहीं हो पा रहा था। अंत में राजनैतिक दबाव में वह मंजूर हुआ परन्तु प्रत्येक जरूरतमंद ऐसा नहीं कर सकता।

एक और दिलचस्प किस्सा जो एक उद्योगपति ने सुनाया । एक निजी बैंक के प्रबंधक ने उस उद्योगपति के घर की रजिस्ट्री के कागज अपने कब्जे में रखे थे हालाँकि उस उद्योगपति ने बैंक का सारा कर्ज लौटा दिया था। उसे दूसरी बैंक से काफी बड़ी मात्रा में ऋण मिल रहा था। परंतु घर की रजिस्ट्री के दस्तावेजों के अभाव में वह ऋण मंजूर नहीं हो पा रहा था। निराश होकर वह उद्योगपति एक पत्रकार के यहाँ पहुंचा, रात का समय था। उस पत्रकार ने उदासी का कारण पूछा। जो उद्योगपति ने बयान कर दिया। पत्रकार मित्र को दया आ गई, उसने तुरंत उस बैंक के अध्यक्ष को मुंबई में फोन लगाया और दूसरे दिन सबेरे उद्योगपति को बैंक से कागज मिल गए। काफी अरसा बीतने के बाद उस उद्योगपति ने जब उस बैंक से पूछताछ की कि मेरे पेपर क्यों दबाकर रखे थे, तो पता चला कि जिस बहुराष्ट्रीय कंपनी की एजेन्सी उसके पास थी उस बहुराष्ट्रीय कंपनी को मुबंई में इसी बैंक ने उत्पादन के लिए करोड़ों रूपयें का कर्ज दिया था उस कंपनी के हित में ही बैंक प्रबन्धक वितरक को कागज लौटा नहीं रहा था।

आज बैंकों की यह हालत हैं कि उनके पास धन की कमी नहीं हैं मगर उद्योग बीमार पड़े हैं। बैंकों से पैसा उठाने कोई आगे नहीं आ रहे हैं। हो सकता हैं आने वाले दिनों में जब विदेशी बैंकों का जाल यहाँ फैलेगा तब हमारी बैंकों की नींद खुलेगी और वे अधिक कार्यक्षम साबित होंगे।

अध्याय ७

जमीन से जुड़े देशी और विदेशी कृषि वैज्ञानिक

शासन की नीति के अनुसार कृषि स्नातक, स्नातकोत्तर या उससे भी उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति किसी अनुसंधान केन्द्र पर जब नौकरी करता है तब वह कृषि वैज्ञानिक कहलाता है। इन वैज्ञानिकों के शोध कार्य शासन द्वारा ही निर्धारित होते हैं। यदि वे नीतियाँ गलत हो या समयोचित ना हो तो भी उससे असहमति जताना या उसके खिलाफ शोध कार्य करने का साहस कोई वैज्ञानिक नहीं कर पाता है। जाहिर हैं लीक से हटकर सोचने का या कुछ करने की जिद कुछ बिरले ही कर पाते हैं। कभी–कभी ऐसा भी होता हैं कि जिन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा कृषि में न ली हो वे भी कृषि की किसी एक विशेष शाखा में अद्भुत कार्य कर कृषि विज्ञान को एक नई दिशा दे जाते हैं। ऐसे ही कुछ कृषि वैज्ञानिकों का संक्षिप्त में परिचय और उनके कृषि शोध कार्य पर विचार करना दिलचस्प होगा।

क. डॉ. जॉर्ज वाशिंगटन कार्वर

अमेरिका के मिसौरी राज्य में डायमण्ड ग्रोव्ह नाम की निग्रो बस्ती है। उस बस्ती में सन् 1861 में जार्ज वाशिंगटन कार्वर ने जन्म लिया। उसके निग्रो माँ–बाप गुलाम थे, माँ का नाम मेरी था। जॉर्ज का जन्म होते ही बाप एक दुर्घटना में चल बसा और जब जॉर्ज 2 माह का था तब उसकी माँ का लुटेरों ने अपहरण कर लिया। जिस जर्मन मालिक के घर ये लोग काम करते थे उसका नाम मोझेस कार्वर था। उसने अपना घोड़ा लुटेरों को देकर जार्ज को उनके चंगुल से छुड़ाया। परन्तु मेरी जिन्दा ना बच सकी।

उस जर्मन दम्पत्ति ने ही इस बालक को पाला। बचपन में जॉर्ज बेहद कमजोर था। वह जैसे तैसे जिन्दा था। अक्सर बगीचे में घूमता रहता। फूलों को, पौधों को देखता निहारता रहता। धीरे–धीरे उसके मालिक ने और उसकी पत्नी सुझान ने जॉर्ज वाशिंगटन की पढ़ाई की व्यवस्था की। मिन्नैपौलिस में उसकी उच्च शिक्षा संपन्न हुई। फिर 1885 में कैन्सास राज्य में वह हाईलैण्ड विश्व विद्यालय में दाखिल हुआ। वहाँ महाविद्यालयीन विद्या समाप्त कर जॉर्ज वाशिंगटन ने 1891 में आयोवा स्टेट कॉलेज में वनस्पति शास्त्र में प्रवेश लिया। 1894 में कृषि वनस्पति शास्त्र में स्नातक होने के बाद जॉर्ज वाशिंगटन कार्वर का कृषि संशोधन प्रारंभ हुआ। प्रोफेसर वैलस की देखरेख में जॉर्ज ने मायकॉलॉजी विषय लेकर सन् 1896 में एम. एस. उपाधि प्राप्त की।

उसी साल अक्टूबर माह में अलाबामा के टस्कगी स्कूल में उन्होंने अपना कार्य प्रारम्भ किया। जब वे स्कूल में दाखिल हुए तब वहाँ केवल 13 विद्यार्थी थे। लेकिन जॉर्ज वाशिंगटन कार्वर का नाम चारों ओर इस तरह फैला कि एक साल में ही वहाँ 78 विद्यार्थी भर्ती हो गए।

डॉ. कार्वर ने प्रारंभ से ही रासायनिक उर्वरकों को अपनी सीमाओं से दूर रखा। उन्होंने किसानों को फसल कटाई के बाद खेत में बचे कचरे और घास–फूस से खाद बनाना सिखाया। कपास उगाना सिखाया, कपास की फसल निकलने के बाद बचे कपास के डण्ठलों से कागज, रस्सी, और कम्बल बनाना सिखाया। भिण्डी के पौधो से भी रस्सी और कंबल बनांना सिखाया।

टमाटर का फल खाद्य पदार्थ हैं यह डॉ. कॉर्वर ने सिद्ध कर बताया। मूंगफली के छिलकों से उन्होंने

कागज बनाया। एक बार बारिश के मौसम में सड़क पर जमा कीचड़ गलती से उनके कपड़ों पर लगा। अपनी प्रयोग शाला में आकर उन्होंने कीचड़ साफ किया तो पता चला कि उसके नीचे गहरा जामुनिया रंग का दाग है। उन्होंने छानबीन की, जिस स्थान से कीचड़ उछला था वहाँ की मिट्टी का परीक्षण किया और माण्टगोमेरी के पास से मिट्टी इकट्ठी की और उसमें से घरों को रंगने वाले रंगों का अविष्कार किया।

डॉ. कार्वर ने 1899 में चलित कृषि विद्यालय प्रारम्भ किया। अपने स्कूल के कुछ चुने हुए विद्यार्थियों को लेकर डॉ. कार्वर गाँव–गाँव जाकर किसानों को खेती के नए सूत्र मय प्रदर्शन सिखाने लगे। उस चलित

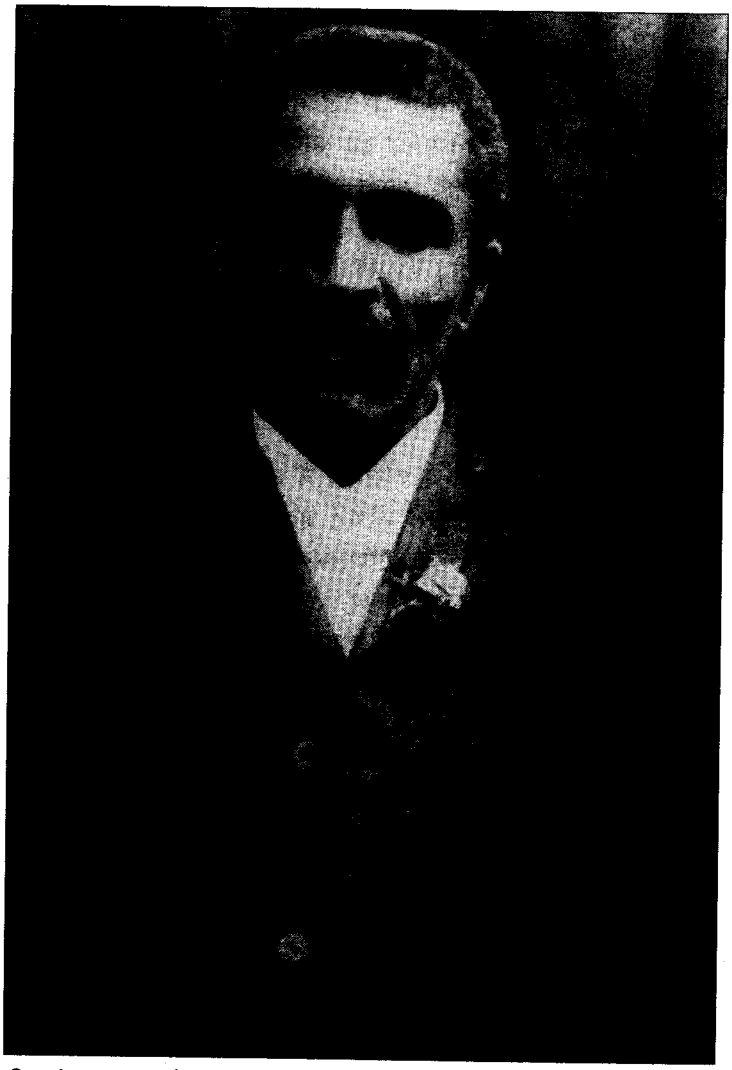

चित्र क्रं. ९२ : हमारे समय का सर्वश्रेष्ठ कृषि वैज्ञानिक डॉ. जॉर्ज वाशिंगटन कार्वर (१८९१-१९४३) *कार्वर म्यूजियम से प्राप्त*

कृषि विद्यालय का इतना अच्छा असर पड़ा कि उनके स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ गई। रूस, पोलेण्ड, चीन, जापान, भारत, अफ्रीका आदि देशों में उनका नाम फैल गया। टस्कगी गाँव का नाम रोशन हुआ। हजारों लोग टस्कगी गाँव का स्कूल देखने आने लगे। टस्कगी गाँव सम्पन्न हो गया। वहाँ रेल मार्ग प्रारम्भ हुई। स्कूल प्रबंध समिति ने डॉ. कार्वन की पगार बढ़ाने की पेशकश की। उन्होंने विनम्रता से मना कर दिया।

अमेरिका के दक्षिणी प्रदेशों में अधिकतर कपास की खेती होती थी। उस साल कपास पर भयानक कीट प्रकोप हुआ मगर डॉ. कार्वर का इलाका कपास कीट से बचा रहा क्योंकि डॉ. कार्वर ने अपने किसानों को कपास के साथ दालें, मूंगफली बगैर फसलों का फसल चक्र समझाया था। इसी मूंगफली फसल ने कपास को बचाया। इन किसानों को डॉ. कार्वर ने मूंगफली फसल बोने की सलाह दी। पहले तो किसानों ने डॉ. कार्वर की सलाह नहीं मानी। उनको लगता था कि मूंगफली तो सूअर खाते हैं। डॉ. कार्वर ने लाख समझाया। फिर मैकान काउण्टी के 8–10 किसानों को भोजन पर आमंत्रित किया। अपने विद्यार्थियों की मदद से उन्होने सूप, चिकन, पाव सब्जी, सलाद, आईसक्रीम, केण्डी और कॉफी जैसे पदार्थ परोसे। सब ने खुलकर तारीफ की। अंत में डॉ. कार्वर ने रहस्योद्घाटन किया कि उन्होंने बनाए सभी व्यजन मूंगफली के बने थे। किसानों को डॉ. कार्वर की बात जंची। डॉ. कार्वर ने फिर मूंगफली फसल की जानकारी के पत्रक छपवाकर किसानों में बांटे। कुछ किसानों ने मूंगफली की बोनी की। उपजी फसल से पनीर, आईस्क्रीम और केक बनाकर बाजार में बेची। उपभोक्ताओं ने तुरन्त सभी पदार्थों की तारीफ की और धीरे–धीरे मूंगफली की मांग बढ़ी। मूंगफली का रकबा इतना बढ़ा कि सारा बाजार मूंगफली से पट गया। भाव गिरे, किसान फिर बेहाल हुए।

डॉ. कार्वर निराश नहीं हुए, उन्हें यह बात समझ में आ गई कि उगती फसल से जब तक विविध औद्योगिक पदार्थ नही बनेंगे भाव इसी तरह गिरते रहेंगे। अतः उन्होंने मूंगफली के दानों पर प्रयोगशाला में अनुसंधान किए। मूंगफली के तेल का रासायनिक विश्लेषण कर उन्होंने उससे चरबी, शकर, स्याही, बूट पालिश, रंग, साबुन, कागज, ग्रीस, टाइल्स, दूध, पनीर, शैम्पू, सिकरा और न जाने क्या–क्या पदार्थ बना शुरू किया। अपने इस संशोधन को उन्होंने कृत्रिम पदार्थ की संज्ञा दी। अमेरिका की कृषि प्रधान अर्थ व्यवस्था को उन्होंने उद्योगों में जोड़ा। उन्हे समझ में आ गया कि उद्योगों में कच्चे माल का महत्व जरूर है मगर कच्चे माल का मोल मिलता नहीं। लिहाजा कच्चे माल पैदा करने वाले और उनसे औद्योगिक पदार्थ बनाने वाले भी यदि उनके किसान ही रहे तो उनकी आर्थिक स्थिती मजबूत बन सकती है।

मूंगफली के बाद डॉ. कार्वर ने जमींकन्द और रतालू पर अनुसंधान प्रारम्भ किया उससे भी स्टार्च, खाद्य पदार्थ, कपड़ा, कृत्रिम रबर आदि तैयार किए। सेना के लिए रतालू से डबलरोटी, बिस्कुट बनाए।

सन् 1916 में लन्दन की रॉयल सोसायटी ऑफ आर्ट्स ने डॉ. कार्वर को अपना सम्माननीय सदस्य बनाया ।

13 सितम्बर 1920 को माउण्ट मेरी कांऊटी के सिटी हाल में अमेरिका की मूँगफली उत्पादक संस्था ने अपने पदार्थो के प्रदर्शन और उद्बोधन के लिए डॉ. कार्वर को बुलाया मगर शायद आयोजकों को मालूम नहीं था कि उस हाल में नीग्रो लोगों को प्रवेश वर्जित है। डॉ. कार्वर को भी प्रवेश करने में कई दिक्कतों का सामना करना पड़ा पर अतन्तः जब उन्हें प्रवेश मिला और जब उन्होंने अपना उद्बोधन प्रारम्भ किया तो हॉल में सन्नाटा छा गया। जनता दिग्मूढ़ हों उनके पदार्थों को देखती रही और उन्हें सुनती रही। जब

उनका भाषण समाप्त हुआ पूरा हॉल उठ खड़ा हो गया और तालियों की गड़गड़ाहट में डूब गया। एक श्रोता ने उनसे पूछा "आपको ये कैसे सूझा?" "मैंने बाईबल से सीखा है" डॉ. कार्वर बोले। "बाईबल से ?" श्रोता ने पूछा ?" "जी हाँ बाईबल से" डॉ. कार्वर बोले। "जिनसिस के पहले अध्याय में लिखा है कि इस भूमि पर पैदा हर दाना, हर वनस्पति, हर एक फल तुम्हारा भोजन है। मांसाहार की तरह तुम उसका उपयोग कर सकते हो"।

सन् 1940 में डॉ. कार्वर ने कपास की फसल की संकर जाति पैदा की उसका नाम रखा "कार्वर हायब्रिड" मगर जब कृमि धागे से बना रेयान कपड़ा बाजार में आया तो डॉ. कार्वर ने कपास के पौधे से प्लास्टिक बनाने का तंत्र ढूंढ़ निकाला।

बिजली के संशोधक थॉमस एडिसन ने डॉ. कार्वर को अपने साथ अनुसंधान करने के लिए आमंत्रित किया। उन्हे वार्षिक तनख्वाह एक लाख रूपये देने की पेशकश की मगर डॉ. कार्वर ने अपना अनुसंधान खेती तक ही सीमित रखने का मन बना लिया था। इसलिए उन्होंने एडीसन को मना कर दिया। उस समय डॉ. कार्वर मात्र पंद्रह सौ डॉलर प्रति वर्ष तनख्वाह पाते थे।

सन् 1937 में डॉ. कार्वर की मुलाकात फोर्ड मोटर के प्रमुख हेनरी फोर्ड से हुई। हेनरी फोर्ड ने डियरबार्न में सोयाबीन फसल की बोनी की थी। सोयाबीन से कई खाद्य उत्पादन उन्होंने बनाए थे। डॉ. कार्वर को उन्होंने वे उत्पादन बताए। डॉ. कार्वर ने कुछ ही वर्षों में उनकी कार के लिए कई पुर्जे सोयाबीन से तैयार कर उन्हें बताए। सोयाबीन से कार के लिए रंग तैयार किए।

डॉ. कार्वर की सलाह पर हेनरी फोर्ड ने जॉर्जिया में कृषि अनुसंधान केन्द्र प्रारम्भ किया। उसी अनुसंधान केन्द्र में डॉ. कार्वर ने कृत्रिम रबर तैयार किया। डॉ. कार्वर के अनुसंधान से प्रभावित हेनरी फोर्ड ने टस्कगी कृषि विद्यालय के कुछ विद्यार्थियों को फोर्ड मोटर कारखाने में प्रशिक्षित किया। अमेरिका की नीग्रो जनता को उद्योगों का रास्ता हेनरी फोर्ड ने खोल दिया। सन् 1940 में अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष फ्रेंकलिन रूजवेल्ट ने टस्कगी कृषि विद्यालय में आकर डॉ. कार्वर का सम्मान किया।

डॉ. कार्वर ने टस्कगी स्कूल में 40 वर्ष नौकरी की मगर पूरे चालीस वर्षों तक उन्होंने अपनी तनख्वाह बढ़वायी नहीं। पूरी जिंदगी उन्होंने 110 डॉलर प्रतिमाह तनख्वाह पर ही गुजारा किया। सेवानिवृत्ति के बाद उनके पास जो पैसा था उसमें एक न्यास की स्थापना की। उस न्यास से गरीब होनहार नीग्रो विद्यार्थियों को आर्थिक मदद की जाने लगी।

5 जून 1943 को यह महान कृषि वैज्ञानिक इस धरती से उठ गया। उनकी मृत्यु के एक सप्ताह बाद बेल्जियम कांगो के एक पादरी का पत्र आया, जिसमें उन्होंने लिखा था कि हम पच्चीस वर्षो से डॉ. कार्वर के ऋणी हैं उनके द्वारा मूंगफली से तैयार किए गए दूध ने हमारे बच्चों पर अनन्त उपकार किए हैं, क्योंकि हिंसक पशुओं के कारण हमारे देश में गाय पालना सम्भव नहीं था।

डॉ. कार्वर की समाधि पर अंकित यह शब्द उनकी महानता ही दर्शाते हैं।

"अगर वे चाहते तो अपनी कीर्ति को धन से जोड़ भी सकते थे मगर दोनों की परवाह किए बगैर उन्होंने दूसरों की मदद में ही आनन्द और सुख माना"।

ख १. अलबर्ट हॉवर्ड

पूरे विश्व में जैविक खेती के जनक के रूप में सर अलबर्ट हॉवर्ड का नाम लिया जाता है। इंग्लैण्ड में जन्मे सर हॉवर्ड इंपिरियल केमिकल बॉटनिस्ट के पद पर बिहार के पूसा गाँव में कृषि अनुसंधान केन्द्र में पदस्थ थे। वे एकमात्र कृषि वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने इन्दौर में इंस्टीट्यूट ऑफ प्लांट इंडस्ट्रीज (IPI) की स्थापना की थी जिसका पूरे विश्व में नाम था। इसके पूर्व सन् 1899 में अलबर्ट हॉवर्ड वेस्टइण्डीज में पौध रोग विशेषज्ञ के रूप में गन्ने की फसल के लिए नियुक्त हुए थे। उसके बाद वे कैण्ट में वहीं कॉलेज में

चित्र क्रं १३ : भारत में सफल कृषि अनुसंधान करने वाले कृषि वैज्ञानिकों का जोड़ा लेडी हावर्ड और अलबर्ट हावर्ड
चित्र अधिष्ठाना कृ.ज.ने. कृषि विश्वविद्यालय, कृषि महाविद्यालय इन्दौर के सौजन्य से

वनस्पति शास्त्र के पद पर नियुक्त हुए । इसके बाद 1905 में भारत में उनकी आर्थिक व वनस्पति शास्त्र के रूप में नौकरी कायम हुई। भारत शासन के पूसा कृषि प्रक्षेत्र में उन्होंने काम प्रारम्भ किया। पहली बार उन्हें ऐसा लगा कि वे कुछ अनुसंधान कर पाएंगे क्योंकि पहली बार उन्हें इतना बड़ा प्रक्षेत्र, पैसा और मनपसन्द अनुसंधान करने की आजादी मिली थी। सन् 1918 में अलबर्ट हॉवर्ड ने इन्दौर के पौध उद्योग संस्थान (इंस्टीट्यूट ऑफ प्लाण्ट इंडस्ट्री) की स्थापना की। इसी संस्थान में अलबर्ट हॉवर्ड ने जैविक खादों और जैविक खेती पर महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य किया। इसी स्थान पर उन्होंने इन्दौर मेथड ऑफ कम्पोस्ट

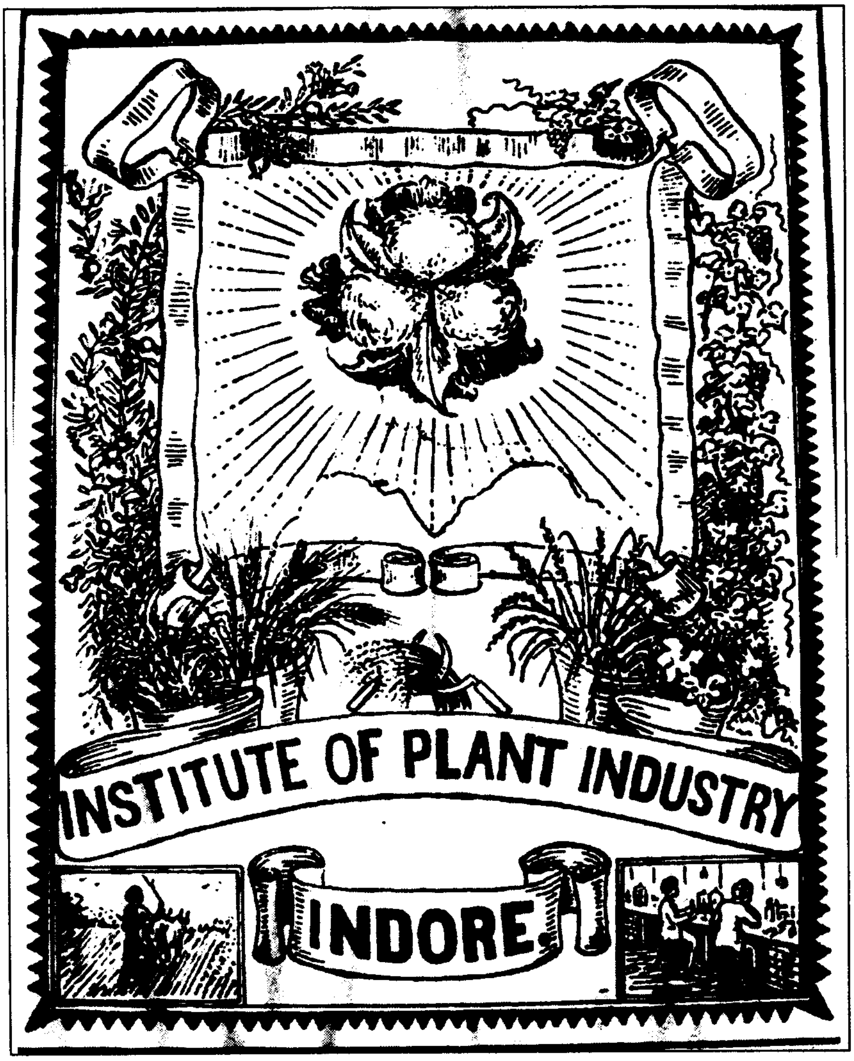

चित्र कं १४ : सर अलबर्ट हॉवर्ड द्वारा स्थापित इन्दौर के विश्व प्रसिद्ध कृषि अनुसंधान केन्द्र आय.पी.आय. का बोध चिन्ह।

चित्र अधिष्ठाता, कृषि महाविद्यालय, इन्दौर (ज.ने. कृषि विश्वविद्यालय), के सौजन्य से

मेकिंग नामक गोबर खाद बनाने की विधि खोज निकाली जिसने पूरे विश्व में इन्दौर का नाम रोशन कर दिया। इतना कि एक बार विदेशी विश्व कृषि प्रदर्शनी में जब भारत के नक्शे पर महात्मा गांधी ने इन्दौर नाम प्रमुखता से देखा तो उन्हें लगा कि शायद गलती से इण्डिया के स्थान पर इन्दौर लिखा गया हैं। लेकिन उन्हें बताया गया कि कृषि अनुसंधान क्षेत्र में इन्दौर स्थित पौध उद्योग संस्थान ने खाद बनाने की नई विधि ईजाद की हैं, तो तभी उन्होंने इन्दौर आने का मन बना लिया। इस तरह गांधी जी अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर 23 अप्रेल 1934 को इन्दौर आए थे और उन्होंने यहाँ पौध उद्योग संस्थान का अवलोकन किया था। हालांकि अलबर्ट हॉवर्ड 1931 को सेवानिवृत्त हो गए थे। सेवानिवृत्ति के बाद भी हावर्ड ने अपनी खोज जारी रखी इंग्लैण्ड के दक्षिण लिंकनआयर में जॉर्ज काडवेल के 3000 एकड़ फैले खेत पर हावर्ड ने नौकरी कर ली। यहाँ अधिकतर उनका अनुसंधान आलू की खेती के लिए हरी खाद के उपयोग तक ही सीमित रहा।

उन्होने केचुओं पर एक पुस्तक लिखी और एक पुस्तक टेस्टामेंट ऑफ एग्रीकल्चर भारतीय खेती का विधान नाम से लिखी, जो पूरे विश्व में प्रसिद्ध हो गई।

हॉवर्ड ने जैविक खेती पर तो काम किया ही मगर रासायनिक खेती पर भी अनुसंधान कर उस पर अपने बेबाक टिप्पणियाँ कीं। भारत में रसायनों की शुरुआत विषय पर उनका अध्ययन गहरा है।

उनके अनुसार 1834 में बसिनगल्ट ने कृषि रसायन की नींव रखी। पहले तो कुछ मुठ्ठी भर लोगों ने हिम्मत का रासायनिक खाद अपने खेतों में डाले। बाद में उनकों देख–देखकर अन्य किसान भी आए। सन् 1840 में प्रसिद्ध कृषि रसायन वैज्ञानिक श्री लायबिग ने अपने कृषि रसायन अनुसंधान पर एक ग्रन्थ लिखा। उनका शोध प्रमुखता से दो तथ्यों पर था –

1) किसान लकड़ी जलाकर जिस राख का इस्तेमाल खेत में करता है उससे पौधे के भोजन का पता चलता है।
2) धूप से भूमि का पानी उड़ जाने के बाद तरल जैव पदार्थ में कुछ नहीं बचता है। चूंकि पौधा वातावरण से कर्ब (कार्बन) लेता है लिहाजा पौधे की बढ़वार के लिए भूमि में अतिरिक्त उर्वरक होना जरूरी माना गया है।

चूंकि राख का वर्गीकरण और पृथक्करण जरूरी माना गया है, इसलिए भूमि में जैव पदार्थ तो रहते ही है, इस तथ्य को नजर अन्दाज कर दिया गया । लायबिग का मानना था कि चूंकि जैव पदार्थ (ह्यूमस) पानी में घुलता नहीं है इसलिए पौधे के किसी काम का नहीं है। उन्होंने इस बात पर गौर नहीं किया कि ह्युमस या जैव पदार्थ का सिद्धान्त गलत हो सकता है मगर ह्युमस नहीं। उनके अनुयायियों ने भी यह अनदेखी की कि भूमि के पृष्ठ भाग पर ह्युमस बहुत फुर्ती से काम करता है । दरअसल उनके अनुयायियों द्वारा जमीन के ऊपर की 9" की परत छोड़कर नीचे की (सबसाइल) के स्तर की मिट्टी में रसायन डालकर प्रयोग करने थे ताकि वे समझ जाते कि रसायनों की क्या–क्या सीमाएँ हैं। मगर उन्होंने पूरे पृष्ठभाग को मिलाकर भूमि का पृथक्करण किया और यह सिद्ध किया कि रसायनों से ही उपज बढ़ती है, जबकि उसमें सबसे बड़ी भूमिका तो ह्युमस की थी, जिसे वे नजर अन्दाज कर गए इसलिए लॉयबिग आगे चलकर असफल हो गए। लॉयबिग का असफल होने का एक कारण यह भी था कि वह केवल रसायन शास्त्री थे । किसानों की समस्याओं से वह अवगत नहीं थे। उनकी इस भूल ने अगले 100 साल तक खेती को प्रभावित किया क्योकि 1843 में रोथमर्स्टेड, जो लॉयबिग के कथन से बुरी तरह प्रभावित था उसके ब्राडबेंक प्रक्षेत्र पर किए

गए ऐतिहासिक प्रयोगों ने पूरी दुनिया के किसानों को आकर्षित किया और इस सदी की समाप्ति तक पूरे विश्व में रसायनों का दबदबा रहा । खेतों में NPK रसायनों का नाम उसी से प्रारम्भ हुआ। NPK यानी नत्रजन, फास्फोरस (स्फूर) और पोटाश खाद।

उसी समय एन.पी. के. उर्वरकों के बड़ी संख्या में प्रयोग हुए। दिक्कत यह हुई कि भूमि के अन्दर तत्वों की कमी को मुख्य मुद्दों मान लिया गया कि रासायनिक एन.पी.के. डालकर इन तत्वों की कमी को पूरा किया जा सकता है। वैज्ञानिक यह तत्व भूल गए कि केवल रसायनों से ही फसल उत्पादन नहीं बढ़ता है। भूमि की भौतिक संरचना भी महत्वपूर्ण होती है। इसलिए अमेरिका के किंग और हेलगार्ड ने "भूमि की भौतिकता" विषय खोज निकाला। लुई पाश्चर की जीवाणुओं की खोज के पश्चात कृषि विज्ञान में नया युग प्रारंभ हुआ। उसके पहले 1784 में चार्ल्स डार्विन की केचुआ खोज के बाद कृषि में नई खोज नहीं हुई थी। जो सूक्ष्म जीव जौविक पदार्थो के नत्र स्थिरिकरण के लिए जिम्मेदार हैं उन्हें विनोग्रेडस्क ने खोजा और भूमि जीवाणु शास्त्र प्रारम्भ हुआ। उसी समय रूस में भी नई खोज हुई कि भूमि का अस्तित्व अलग होता है। मौसम, वनस्पति और भूगर्भ की स्थिति मिट्टी की अधोरचना करती रहती है। इसी कारण कृषि विज्ञान की नई शाखा प्रारम्भ हुई जिसे मृदा विज्ञान कहा जाने लगा । भूरसायन, भू भौतिकी, केचूए तथा भूजीवाणु मिलकर मृदा विज्ञान बनता है।

19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह बात समझ में आई की पौधे की बढ़वार का महत्वपूर्ण तत्व पौधा ही है । यह रूस के वैज्ञानिकों का खेती में विशेष योगदान रहा। मगर लायबिग के रसायन, खेती में अधिक सफल हुए। वैज्ञानिकों ने उन्हें अधिक महत्व दिया। यह समझना मुश्किल है कि 9x2 वर्ग मीटर क्षेत्रफल वाले पूरे खेत का निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है? छोटे प्लाट, जिन पर प्रयोग होते हैं वे पूरे खेत का किस तरह प्रतिनिधित्व करते हैं ? रसायनों के उपयोग से कीड़े और बीमारियों को फैलने में सहायता मिलती है यह तथ्य अब उजागर हो चुका है और इस जिस कारण खेती का अर्थशास्त्र गड़बड़ा गया है।

इस तरह खेती में अर्थशास्त्र आया और धरती माँ को पैसों में तौला जाने लगा । खेती उद्योग बन गई। दरअसल खेतों में उपज बढ़ाना वैज्ञानिक खोज की सबसे बड़ी कमजोरी है क्योंकि भौतिक और रसायन शास्त्र में आप पूरा रिकार्ड रख सकते हैं मगर खेती जैसे जीवन शास्त्र में नहीं क्योंकि वह सम्भावनाओं पर आधारित है।

हमारे कृषि अनुसंधान में अर्थशास्त्र ने उतना नुकसान नहीं किया जितना अलग–अलग तैयार की गई तालिकाओं ने किया। खेती का मतलब केवल धन कमाना नहीं है मगर धन धान्य कमाना है ताकि खाद्यान्न सुरक्षित रहे। साथ ही भूमि भी उर्वरित रहे । सबको दो जून की रोटी मिले यह किसी भी शासन का पहला और एक मात्र उद्देश्य होना चाहिए।

कृषि अनुसंधानों ने अच्छे किसान पैदा नहीं किए उनके रूप में व्यापारी निर्माण किए। कृषि अनुसंधान का यश क्षण भंगूर है क्योंकि जबतक भूमि समृद्ध है आप समृद्ध रहेंगें ।

अलबर्ट हॉवर्ड का कहना है कि "जैविक खाद बनाने इतना क्या जैविक तत्व हमारे यहाँ मौजूद है? यह प्रश्न पूछना बेमानी है। क्योंकि आदमी जितना खाता है उतना ही शरीर से निकालता है इसलिए मानव मल, पशु मल, वनस्पतियाँ, दलहनी, तिलहनी फसलों के अवशेष, जलकुंभी और झाड़झंकाड़, पशुओं की हड्डियाँ आदि जैविक तत्व जैविक खाद बनाने के लिए पर्याप्त है। जैविक खादों की भी सीमाएँ हैं क्योकि जरूरत से ज्यादा जैविक खाद खेतों में डालने से भूमि में उनका खनिजिकरण हो जाता है । कोई

भी जैविक प्रक्रिया भोजन में 40 प्रतिशत से ज्यादा तत्वों को नहीं रख सकती है इसलिए मानव मल में मूल आदानों का 60 से ज्यादा तत्व रहना जरूरी नहीं है ।

उनका यह भी कहना था कि ज्यादा रासायनिक नत्रजन देने से बीज का आकार नहीं बढ़ता है, पत्ते और तना बढ जाते हैं। भूमि का नत्र और कर्ब अनुपात गड़बड़ा जाता है क्योंकि ज्यादा नत्र से प्रकाश संश्लेषण बढ़ेगा उसी तरह ज्यादा कर्ब भूमि में रहने से पौधा नहीं ले पाएगा। बीजों का आकार बढ़ना यानी पोषक तत्वों का जौविक उत्पादन कम होना है अर्थात् बीज में स्टार्च, शर्करा, वसा और तेल की अधिकता होने से एमिनों एसिड का सन्तुलन बिगड़ जाएगा ।

मिशिगन युनिवर्सिटी के डॉ. ए.जी. नॉर्मन का कहना है कि ज्यादा उपज से ज्यादा पोषक तत्व मिलते हैं यह गलत है। जैसे ज्यादा नत्रजन देने से ज्यादा प्रोटीन बढ़ता है, यह मानना सही नहीं है जबकि प्रोटीन पौधों की बढ़वार की जैविक प्रक्रिया से ही बढ़ता है। इसलिए इस जैविक प्रक्रिया को बढ़ाने के लिए हमें पौधों के पोषक तत्वों के बजाए भूमि के पोषक तत्वों की अधिक चिन्ता करनी चाहिए। अधिक रसायन डालने से भूमि में अम्ल बढ़ते हैं और अधिक चूने की मांग करते हैं। दरअसल जब बादलों की गरज के साथ वर्षा होती है तब वातावरण का नत्र घुल जाता है, जिसे दलहन फसलों की जड़ों में व्याप्त जीवाणु अपनी ओर खीच लेते हैं। इस पर कृषि वैज्ञानिक कह सकते हैं कि वह पर्याप्त नहीं है । तब सवाल उठता है कि पौधों की या फसलों की रासायनिक तत्वों की आवश्यकता क्या है यह कैसे मालूम पड़ सकता है ? अच्छी दलहनी फसल से एक मौसम में 90 किलो नत्रजन एक एकड़ में पौधे को मिल सकती है।

पानी की खोज में पौधे की जड़ें जमीन के अन्दर उतरती हैं तब भूमि के अन्दर पल रहे माइकोरायजा जीवाणुं जडो के बारीक रोगों पर आक्रमण करते हैं ।

जहाँ तक स्फुर की उपलब्धि का सवाल है, वह पशु मूत्र से मिल जाती है । उसके अलावा वर्षा के पूर्व जब अतिरिक्त जैविक तत्वों के कारण उनका खनिजीकरण होता है उस समय उनमें से स्फुर मुक्त हो जाता है। इसके अलावा जड़ों में भी स्फुर घोलक जीवाणु होते हैं जो एनझाइम मुक्त कर पौधों को स्फुर प्रदान करते हैं ।

इस तरह फसल को प्रकृति से ही सब पोषक तत्व मिल जाते हैं। इसके अलावा भूमि में खरबों जीवाणु होते हैं, वे भी यहा काम करते हैं। इन जीवाणुओं के अलावा केचुआ भी भूमि का मूल निवासी है। वह अपनी त्वचा से और अपनी आन्तरिक रचना से भूमि की रचना करता है ताकि भूमि में जल और हवा जड़ों को पर्याप्त मिले। यदि केचुआ मर भी जाए तो भी वह भूमि को करीब 70 प्रतिशत प्रोटीन अपने शरीर से देता है ।

ख २. जौविक खादों में रासायनिक खाद मिलाना जरूरी है ?

पौधों में आवश्यकता से अधिक N (नत्र) और P (स्फुर) की मात्रा फसलों के लिए नुकसानदायक है। अधिक नत्र से पत्तियाँ बढ़ती है जो कीड़ों और रोगों को आमंत्रित करती है और स्फुर भूमि का पानी प्रदूषित करता है । उससे उत्पादन कम होता है और गुणवत्ता में कमी आती है। दूसरे जैविक खादों में जहाँ 30–32 तत्व रहते हैं, रासायनिक खादों में केवल 4–5 ही जिससे भूमि में क्षार बढ़ता है और नमीं कम हो जाती है। क्षार कम – ज्यादा होने से पौधों की दैहिक प्रक्रिया को झटका लगता है, खरपतवारों

को नहीं। लिहाजा वे ज्यादा बढ़ते हैं।

जैविक खाद और रासायनिक खाद साथ–साथ देने से भूमि का जीवाणु भण्डार अस्त–व्यस्त हो जाता है । रसायन उन्हें नष्ट कर देते हैं । रसायनों की मौजूदगी में जैविक तत्वों की परिपक्व होने की प्रक्रिया भी गड़बड़ा जाती है। मिट्टी का भौतिक स्वरूप घट जाता है। और उसकी जलधारण क्षमता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। सूक्ष्म तत्व भी कम हो जाते हैं। कृत्रिम तरीके से दिए गए सूक्ष्म तत्व भूमि के लिए हानिकारक हैं क्योंकि वे विषैले होते हैं। रसायनों के अति उपयोग से सन् 1882 से 1952 तक विश्व में 1100 मिलियन (110 करोड़) हेक्टेयर रेगिस्तान अब फैलकर 2600 मिलियन हेक्टेयर हो गया है, क्योंकि एक ओर जंगल बड़ी मात्रा में कटे तथा रासानियक खादों का चलन बढ़ा।

अलबर्ट हॉवर्ड का कथन है कि जिस लायबिग के कारण खेती में रसायनों का प्रादुर्भाव हुआ उन्हें मरते समय अपनी गलती का अहसास हुआ। वह सन् 1890 में मरा, एनसायक्लोपीडिया ब्रिटानिका में उन्होंने लिखा है "मैंने उस महान सृजक की बुद्धिमत्ता के खिलाफ बहुत बड़ा पाप किया है जिसकी सजा मुझे मिली। (मजे की बात यह है कि ब्रिटानिका एनसायक्लोपीडिया में लिखा उनका यह वाक्य रहस्यमय ढंग से गायब हो गया) मैं उसके कार्य में सुधार चाहता हूं और विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस पृथ्वी पर जीवों को सुरक्षित रखने की जो प्राकृतिक प्रक्रिया है वह हमेशा जिन्दगी को नया रखती है। उसकी एक कड़ी जो मैं भूल गया था, मुझे सुधार लेना चाहिए थी।"

अलबर्ट हॉवर्ड सन् 1931 में सेवानिवृत्व हुए मगर उसके बाद भी दक्षिण लिकन शहर में श्री जॉर्ज कॉडवेल के प्रक्षेत्र स्पालिंग में 3000 एकड़ पर हरी खाद और आलू पर काम करते रहे। उसका कहना था कि पौध रोग अनुसंधान प्रारम्भ हुए 50 वर्ष बीत गए। क्या रोगों का कोई स्थाई इलाज हो सका ? पौधो में बीमारियाँ क्यों आती है ? भारत कि पारंम्परिक खेती देखकर लगा कि कीड़ों का प्रकोप होता है तो होने दो । सुधरी खेती और सुधरी सब्जियों की प्रजातियों से ही स्थाई इलाज सम्भव हो सका। मेरा विश्वास है कि भारत की पारम्परिक खेती का मेरा जितना ज्ञान बढ़ेगा बीमारियाँ कम होती जाएगी। सन् 1910 तक बात मुझे समझ में आ गई कि बिना पौध रोग और कीट विज्ञान शास्त्र, रसायन शास्त्र, सांख्यिकीय शास्त्र, सूचना केन्द्र कृत्रिम खाद और हवा छिड़काव यंत्र से मैं अच्छी फसल ले सकता हूँ।

ग. सान् मासानोबू फुकुओका

दक्षिण जापान के शिकाकु द्वीप के पास एक छोटे से गाँव में सान मासानोबू फुकुओका आज भी 95 वर्ष की उम्र में एक नौजवान की तरह जापान में प्राकृतिक खेती का अलख जगाए हुए हैं ! वह ना तो खेत को जोतते हैं और न ही जैविक या रासायनिक खाद खेतों में इस्तेमाल करते हैं । वे खेतों में न हल न कीटनाशक न खरपतवार या अन्य किसी रसायन का इस्तेमाल करते हैं। यदि आवश्यक हुआ तो खेत में उग रहे चारे को कटवाते हैं मगर उसे खेत के बाहर नहीं जाने देते। यह आज नहीं बरसों से चला आ रहा है।

खेती फुकुओका के लिए केवल आमदनी का जरिया ही नहीं है बल्कि उनकी जीवन शैली भी है, जीवन दर्शन भी है । कृषि में उच्च शिक्षा प्राप्त फुकुओका दिखावे के कृषि वैज्ञानिकों से चार हाथ दूर ही रहते हैं! उनका सोच है खुद अपने हाथों से करो, देखो और सोचो कि प्रकृति का कैनवास कितना विशाल

चित्र १६. अपने चेले द्वारा केवल गाजर घास की सड़ी ढेरी पर उगाए ५ माह पुराने गन्ने के पौधे को प्रदर्शित करते हुए दाभोलकर सर. साथ खड़े हैं चेले के पिता रिटा. ब्रिगेडियर नायर, श्रीमती नायर तथा अन्य.

चित्र १७. अपने प्रयोग को गुरु से मिली दाद से प्रसन्न महू (इन्दौर) के शिष्य देवकुमार नायर तथा स्वयं

न पंखे हैं। मोमबत्ती और घासलेट की रोशनी में प्राकृतिक जिन्दगी जीते है फुकुओका । खेती का कार्य सुबह 8 बजे प्रारम्भ होता है । बीच में 1 घण्टा और अधिक गर्मी हो तो 3 घण्टे दोपहर में भोजन का समय मिलता है । खेती का कार्य सूरज ढलने तक चलता है । नल नहीं है पानी स्वयं चलकर लाना पड़ता है। हाथों से लकड़ी काटना पड़ती है। बकरी, मुर्गी और मधु मक्खियों की देखभाल करना पड़ती है ।

नई–नई झोपड़ियां बनाना पड़ती है । पुरानी झोपड़ियों की मरम्मत करना पड़ती है । वे अपने यहाँ काम करने वाले विद्यार्थियों को अर्द्ध आदिवासी जीवन जीने की सलाह देते हैं जो वे स्वयं जी रहे हैं क्योंकि उनका मानना है कि प्रकृति को आप तभी समझ सकोगे जब उस अवस्था में अपना जीवन ढालो । जापान में शिकाकुआ का वह क्षेत्र है जहाँ फुकोओका रहते हैं चावल प्रमुख फसल है जो मैदानों में उगाई जाती है जबकि पास वाली पहाडियों पर नारंगी उगाई जाती है। फुकुओका सवा एकड़ में चावल बोते हैं और साढ़े बारह एकड़ में नारंगी की खेती करते हैं।

वे विद्यार्थियों को बगीचे में काम करते–करते सलाह देते हैं। खेती की बारीकियों से रूबरू कराते हैं और स्वयं करके बताते हैं। वे प्रकृति के अनुरूप खेत को ढालने पर जोर देते हैं बजाय इसके कि प्रकृति को जीता जाए।

युवावस्था में वे सूक्ष्मजीव विशेषज्ञ बनना चाहते थे। मगर उन्हें शासन ने पौध रोग विभाग में काम दिया। उनका मन नहीं लगा और वे वापिस गांव में आ गए। वे खेती के बारे में अपनी कल्पनाओं को खुद साकार कर देखना चाहते थे। खेतों में घूमते–घूमते उन्हें एक खेत के टुकड़े में जहाँ बरसों से हल नहीं चला था चावल के कुछ ताकतवर पौधे घास की ओट में दिखे तब से उन्होंने अपने चावल के खेत में पानी छोड़ना बन्द कर दिया । फुकुओका चावल बोते हैं, सफेद मेथी और ठण्ड के मौसम में उसी खेत में अनाज भी लेते हैं। खेत में बारिश में निकाले चावल का भूसा बिछा हुआ रहता है। जो या रामतिल और सफेद मेथी के दाने एक साथ अंकुरित होते हैं। चावल के दाने बसन्त ऋतु तक सुप्तावस्था में जमीन में पड़े रहते हैं । जब ठण्ड में अनाज उगता रहता है, सन्तरों के बगीचों में काम बढ़ जाता है। उसकी कटाई नवम्बर से अप्रैल तक चलती रहती है। रामतिल और जो मई में कटते हैं जिन्हें खेत में सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है। उनकी बाद उसकी गहाई, सफाई होती है बाद में उन्हें बोरों में भरकर रखा जाता है। जून माह में चावल के खेत में पानी भरा रहने दिया जाता है ताकि मेथी और खरपतवार थोड़ा गल जाए। इससे कमजोर रही मेथी उग आती है और चांवल की बढ़वार अच्छी होती है। अक्टूबर में चावल कटता है । दोनों को धूप में सूखने के लिए रखा जाता है। बाद में उनका वजन होता है चौथाई एकड़ में फुकुओका 700 से 750 किलो चांवल लेते हैं।

विगत 35–40 वर्षों में फुकुओका के खेत की मिट्टी दिन ब दिन निखरती चली गई । क्या कोई सोच सकता है कि खेत में बिना पानी के कोई चांवल की इतनी पैदावार ले सकता है । उनका मानना है कि कटी हुई फसल के खेत में पत्तियाँ बिछाना लाभदायक है। इससे खेत में नमी बनी रहती और केंचुओं की संख्या में वृद्धि होती है ।

अपने सन्तरे के पेड़ों में भी फुकुओका केंची नहीं चलाते हैं। सन्तरे के पेड़ों को अपने हिसाब से बढ़ने देते हैं । पेड़ों के बीच ढलान पर वे सब्जियाँ और महत्वपूर्ण वनस्पति ले लेते हैं । पत्तागोभी, गाजर, सोयाबीन, राई, मूली, चुकन्दर आदि फुकुओका की प्रमुख सब्जियाँ हैं और अधिकांश सब्जियाँ वे एक साथ लेते हैं। इस प्रकार की खेती जापान में ही सम्भव है । क्योंकि वहाँ पूरे साल वातावरण में आर्द्रता रहती है।

फुकुओका का मानना है कि जब सब्जियाँ पौध अवस्था में रहती है उस समय खरपतवारों को बढ़ने नहीं देना चाहिए। एक बार सब्जियाँ की पौध बढ़वार पकड़ लेती है उसके बाद खरपतवारों को हटाना नहीं चाहिए। उन्हें उनके हिसाब से बढ़ने देना चाहिए। कई बार सब्जियाँ बिना कटे ही खेत में रहती है। उनके फल फूटकर उनके बीज बाहर गिरकर फिर उग आते हैं। उन्हे वैसे ही उगने देना चाहिए क्योंकि दो–तीन मौसम के बाद उनमें नया स्वाद मिलेगा जो उनकी पहली अवस्था से अलग होगा । दूसरे महायुद्ध के बाद जब जापान में अमेरिका से रासायनिक खाद आना प्रारम्भ होने लगी तब जापान की सुदृढ खेती परम्परा नष्ट होने लगी। फुकुओका ने कहा कि इन रसायनों ने भूमि को और जापान के समाज को भी नष्ट कर दिया।

फुकुओका बुद्ध दर्शन से प्रभावित हैं। वे कहते हैं कि प्राकृतिक खेती तन और मन को प्रफुल्लित रखती है । 1975 में लिखी उनकी पुस्तक "वन स्ट्रा रिव्होल्यूशन" पूरे विश्व में पढ़ी गई । कई भाषाओं में उसके अनुवाद हुए।

अपनी जवानी में फुकुओका एक आवारा लड़के की तरह जंगल–जंगल भटकते रहते थे। क्योंकि जब उन्होंने रासायनिक खेती से मुँह मोड़ा था जब उनके पिताजी ने उन्हें सौ एकड़ का संतरे का बगीचा प्राकृतिक तरीके से उगाने के लिए दिया। फुकुओका के पास कोई तजुर्बा नहीं था। लिहाजा पूरा बगीचा कीटव्याधी और बीमारी से नष्ट हो गया। उनके पिताजी नाराज हो गए। उन्हे घर से निकाल दिया गया। वे पागलों तरह घूमने लगे। इसी तरह जंगलों में घूमते–घूमते एक वृक्ष के नीचे वे लगभग अर्धमूर्छित अवस्था में पड़े रहे। पेड़ पर बैठे एक विशालकाय पक्षी ने सुबह होने पर जैसे ही पंख फड़फड़ाते हुए उड़ान भरी फुकुओका की नींद खुली और उन्हें प्रकृति का मंत्र मिल गया। उन्हें समझ में आ गया कि फलां–फलां वक्त प्रकृति में हवा का दवाब होता है प्रकाश की किरण होती है जिसे समझना जरूरी है अन्यथा उस पक्षी को कैसे पता चला कि सुबह हो गई है और अब उड़ना चाहिए।

फुकुओका के प्राकृतिक खेती के चार मंत्र हैं । एक खेत में हल नहीं चलाना क्योंकि भूमि के अन्दर जीवाणु है, केंचुए है वृक्षों की जड़ें हैं, वे खेतों में प्राकृतिक हल दिन–रात चलाते हैं। दूसरा मंत्र है खेतों में किसी भी प्रकार का जैविक या रासायनिक खाद नहीं डालना क्योंकि मिट्टी की जो प्राकृतिक संरचना है, वह इन खादों से बिगड़ जाती है। भूमि में जो जीवांश अन्दर रहते हैं और जो जीव उसके ऊपर पलते हैं वे भूमि को आवश्यक तत्व उपलब्ध करा देते हैं। तीसरा मंत्र है कि किसी भी प्रकार का निदानाशक रसायन या घास काटने वाला यंत्र खेत में नहीं चलाना, खरपतवार को नष्ट नहीं करना, उन्हें काम में लाना जरूरी है। हाथ से काटकर खरपतवार को फसल की कतारों के बीच बिछाने के काम में लेना चाहिए ताकि खेत में नमीं बनी रहे। थोड़ी सिंचाई करके बिछी हुई खरपतवार को नष्ट कर उससे खाद बनाया जा सकता है। चौथा मंत्र है किसी भी प्रकार के कृषि रसायनों पर निर्भर नहीं रहना। जबसे रासायनिक खादों और यंत्रों का चलन खेती में प्रारम्भ हुआ तब से फसलें इतनी कमजोर हो गई कि उन पर कीड़ों का आक्रमण होने लगा और बीमारियाँ लगी। प्रकृति स्वयं ही फसल के इन दुश्मनों से लड़ना जानती है। वह रोग और कीटों को नियंत्रण में रखती है। स्वस्थ पर्यावरण में ताकतवर फसल लेना यही प्राकृतिक खेती का एक–मात्र उद्देश्य है।

घ 1. श्रीपाद् अच्युत दाभोलकर

"केवल 10 गुंठा यानी एक चौथाई एकड़ (10,000 वर्गफीट) में पाँच सदस्यों का एक परिवार उच्च मध्यम वर्ग की तरह अन्न पैदा करके पाला जा सकता है"। यह वैज्ञानिक दावा करने वाले स्व. श्रीपाद अच्युत दाभोलकर कोल्हापुर के रहवासी थे। उनके पिता हाईकोर्ट वकील थे। "सच्ची शिक्षा वही है जो आपके शरीर को जंगली और दिमाग को सांस्कृतिक ताकत दे" रवीन्द्रनाथ टैगोर का यह वाक्य बचपन से ही उनके दिमाग में घर कर गया था । सन् 1942 में जब गांधीजी ने "अंग्रेजों भारत छोड़ो" का नारा दिया तब युवा दाभोलकर को यह महसूस हुआ कि गुलाम भारत में विज्ञान स्नातक को नौकरी कर अपनी जीविका कमाना अपराध है, लिहाजा उन्होने कही भी सरकारी नौकरी नहीं की।

उन्हें उस समय विज्ञान के सामाजिकरण में ज्यादा रस था। उन्होंने शास्त्र सिद्धि साधनालय की स्थापना की। साथ ही गणित में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त कर वे कोल्हापुर के प्रसिद्ध मौनी विद्यापीठ में शिक्षक बने। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री श्री जे.पी. नाईक द्वारा संचालित इस विद्यापीठ का मुख्य उद्देश्य था "शिक्षा द्वारा विकास और विकास के द्वारा शिक्षा"। इस संस्था में दाभोलकर जी ने कृषि, बागवानी, कुक्कुट पालन, रेशम भेड, बकरी, खरगोश पालन आदि का अभ्यास किया, नर्सरी की मिट्टी तैयार करना और पड़त भूमि का विकास इसका भी अभ्यास किया। इस अभ्यास के दौरान उन्होंने अपने आप को एक सीमांत कृषक के रूप में गरीबी रेखा के नीचे जीवन व्यापन करने वाले के समकक्ष रखकर विकास का अभ्यास किया। उन्हे यह महसूस हुआ कि इस स्तर पर किसानों को फसल उगाने का नुस्खा देना बेमानी है क्योंकि हर जगह खेती के हालात अलग–अलग होते हैं।

उन्होंने कई तरह के फल, पौधे और सब्जियाँ लगाना सीखा। पड़त भूमि धीरे–धीरे फल और पौधो से आच्छादित होती गई। उन्होंने मुर्गी और बकरी पालना भी प्रारम्भ किया। उनके यह प्रयोग देखने लोग आने लगे। महाराष्ट्र की उस समय की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका किर्लोस्कर ने उन्हे उनके प्रयोग पर लेख लिखमे के लिए आंमत्रित किया। उनका लेख जब छपा तब उन्हें दस हजार किसानों के पत्र आए। वे सभी लोग दाभोलकर जी के खेती के प्रयोगों से जुड़ना चाहते थे। मुम्बई के एक उद्योगपति ने तो उन्हें इस कार्य के लिए धन देने की भी पेशकश की थी। अपने प्रयोग को मिलती दाद देखकर दाभोलकर अभिभूत हो गए उन्होंने तुरंत सबको लिख भेजा कि थोडा रुके, नए किस्म की जानकारी की कड़ी वे तैयार कर रहे हैं ताकि आप सभी उससे लाभान्वित हो सकें ।

उसी साल नवम्बर माह के किर्लोस्कर मासिक पत्रिका के दीपावली अंक में उन्होने स्वाश्रय विकास मंडल नाम की एक श्रृंखला प्रारम्भ की, जिसका मतलब था अपनी परिस्थिति के अनुसार स्वावलम्बी योजना खुद तैयार करना और उस पर अमल करना ताकि इस प्रकार काम करने वाले किसानों की एक श्रृंखला का निर्माण हो ओर वे एक–दूसरे के काम से प्रेरणा लें और दें। इस मण्डल के प्रमुख उद्देश्य थे खुद छोटे पैमाने पर अंगूर लगाना, अपने अहाते में ही ऊपर गच्ची पर पेड़ लगाना, पिंजरों में मुर्गी पालन करना, शिक्षण संस्था महिला विकास, गृह निर्माण संस्थाओं से मेल मिलाप रखना, आपस में समय–समय पर विचार विमर्श करना आदि । इसके लिए केवल पत्र व्यवहार के लिए हर माह शुल्क लिया जाता। यदि किसी ने पत्र व्यवहार नहीं किया तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती थी।

इस तरह 10,000 किसानों में 500 सदस्य बने, जिनमें डॉक्टर, इंजीनियर, सेवानिवृत्त प्रशासनिक

अधिकारी, विधायक, शिक्षक, महिलाएं आदि सभी थे। इनमें कुछ लोग लगातार अपनी समस्याएँ भेजते रहे। कुछ लोगों ने पत्र व्यवहार बिल्कुल बन्द कर दिया मगर वे ही लोग आगे काम आए क्योंकि उन्होंने 3 साल तक दामोलकर जी द्वारा बताए गए तरीकों से अपने घरों में ही प्रयोग किए थे और वे सफल हुऐ। यही समूह उनसे जुड़ा जिसकी उन्होंने बाकायदा एक डायरेक्टरी बनाई और समूह को नाम दिया प्रयोग परिवार।

धीरे-धीरे दाभोलकर जी का नाम महाराष्ट्र चेम्बर ऑफ कामर्स और रोटरी क्लब के मार्फत पूरे महाराष्ट्र में फैला और राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित किसान सम्मेलनों में भी उन्हे बुलाया जाने लगा।

इस प्रकार श्रृखलाबद्ध अभ्यास ने बगैर पाठशाला के शिक्षा आन्दोलन को जन्म दिया। जर्मनी के इस प्रकार के पाठशाला बन्द शिक्षा पद्धति के प्रणेता इवान विलिच भारत आए। उनकी मुलाकात दाभोलकर जी से हुई। उन्होंने दाभोलकर जी को मेक्सिको आने का निमंत्रण दिया। वे गए और वहाँ उन्होंने पूरे विश्व से आए प्रतिनिधियों को अपनी अभ्यास पद्धति से प्रभावित किया। और वहाँ एक प्रस्ताव पारित हुवा कि "हर व्यक्ति को हर शाखा के विकास को सीखने की आजादी मिलनी चाहिए जहाँ वह अपनी बुद्धि से अपने विचार प्रकट कर सके स्वयं लाभान्वित हो सके और दूसरों को भी कर सके उसके लिए किसी की स्कूल कॉलेज, या विश्वविद्यालय की डिग्री आवश्यक नहीं है।"

महाराष्ट्र के सांगली जिले के तासगाँव के कुछ किसान दाभोलकरजी द्वारा उनके अहाते में गच्ची पर लगाए गए केवल अंगूर की एक बेल से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सन् 78 में ही तासगाँव में अंगूर क्लब की स्थापना की। इसी क्लब द्वारा अंगूर पर किए प्रयोगों से महाराष्ट्र में चारों ओर अंगूर की खेती फैली और धीरे-धीरे पूरे विश्व में प्रसिद्ध हो गई। बगैर किसी पाठ्यक्रम के या महाविद्यालयीन या विश्व विद्यालयीन डिग्री के तासगाँव के किसानों ने अंगूर में जो क्रान्ति लाई उसका विश्व में कोई सानी नहीं है। आज महाराष्ट्र से करीब दो सौ करोड़ रुपये का अंगूर का निर्यात होता है और उसका पूरा श्रेय स्वर्गीय दाभोलकर जी को जाता है, जिन्हें महाराष्ट्र के किसानों ने "द्राक्ष माउली" (अंगूर की माँ) नाम से नवाजा था।

घ २. सूरज और हरितिमा

दाभोलकरजी का विचार था कि पूरे विकास का मूल स्त्रोत सूरज है एक दिन के चमकते सूरज से भूमि पर 1 वर्गफुट क्षेत्र में 1200 किलो कैलोरी ऊर्जा मिलती है जो एक व्यक्ति के एक समय का भोजन बन सकता है यानी पूरे भारत की जनता के लिय 50 हजार एकड़ भूमि पर पैदा किया अनाज पर्याप्त होगा, और इसे हरितिमा में उतार कर ही हर प्रकार का ग्राम विकास सम्भव है। उन्होंने अपनी कल्पना को साकार करने के लिए पड़त भूमि का एक टुकड़ा चुना, उस पर जो भी वनस्पति उगती थी उसे उगने दी। फिर उन्होंने वहाँ एक बकरी पाली। बकरी किसी भी भूमि पर उग रही वनस्पति खा लेती है यहां तक की नागफनी भी और बहुत कम पानी पीती है। इस बकरी से उन्हें पूरे वर्ष में दूध मिला और उसके बच्चों से 30 किलो मांस प्राप्त हुआ। उनका निष्कर्ष था कि इस बकरी को इतना सब कहाँ से प्राप्त हुआ ? और वह भी बगैर किसी बाह्य ऊर्जा के ? तो फिर इस पड़त भूमि से प्राप्त हरे पत्तों का उपयोग ही फसल के लिए आवश्यक खाद के रूप में क्यों नहीं लिया जा सकता ? उन्होंने वहीं पर उपलब्ध अलग-अलग किस्मों की वनस्पतियों से नत्रजन, स्फुर और पलाश की सम्भावनाओं को तलाशा। वहाँ उग रही कुछ भिन्न प्रकार के खरपतवारों से सूक्ष्म तत्व प्राप्त किए।

यहीं से उनके मन में विचार आया कि अत्यन्त कम भूमि में सूर्य शक्ति द्वारा विकास सम्भव है । इस छोटी सी जगह में किसान मसाले, लहसन, अदरक, हल्दी, इलायची आदि उगा सकता है और शरीर के लिए आवश्यक मूल तत्वों को प्राप्त कर सकता है। ये फसलें महिनों किसान के घर पड़ी रह सकती है और हमारी परम्परागत खान–पान पद्धति भी किसानों को आवश्यक भोजन तत्व दे सकती है । जैसे खाना खाने के बाद हमारे यहाँ पान खाने की आदत है। पान से विटामिन भी मिलता है। साथ ही चूना भी जो शरीर के लिए आवश्यक है। यह भी वहाँ उगाया जा सकता है।

दाभोलकर जी हमेशा महात्मा गांधी की तरह विकास की पंक्ति में खड़े अन्तिम व्यक्ति की खुशहाली का विचार कर अपनी योजनाएं बनाते थे। उनका कहना था कि हमारे यहाँ वरीयता हासिल कुछ लोगों ने विज्ञान और प्रोद्योगिकी को अपनी बपौती बना ली है और इसीलिए विकास पाठशालाओं और महाविद्यालयों की चार दिवारी में ही बन्द है। जबकि हमारी आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा केवल ज्ञान के अभाव में बाहर कटोरा लिए खड़ा है। यह जरूरी है कि इस चार दिवारी को तोड़कर विज्ञान के रहस्य खोले जाए और आम आदमी तक पहुँचे। दाभोलकर जी महात्मा गांधी के नमक सत्याग्रह को एक बहुत बड़ा शिक्षा का आदर्श मानते कि यदि आवश्यक हुआ तो साधारण आदमी भी समुद्र से मुठ्ठी भर नमक हाथ में लेकर कानून अपने हाथ में ले सकता है और जुल्म ढाने वाले शासन का कानून तोड़ सकता है। विज्ञान की हिंसा इसी तरह खुल हिंसा होनी चाहिए।

यही से दाभोलकर जी ने अपने दस गुंठा प्रयोगों को प्रारम्भ किया। उनका दावा है कि केवल दस गुंठा (यानी 10,000 वर्ग फीट) जमीन से 5 सदस्यों का एक परिवार उच्च मध्यम वर्ग की तरह जीवन यापन कर सकता है । उनका कहना है कि एक दिन भूमि पर पड़ने वाला सूर्य प्रकाश 1 वर्गफूट भूमि से एक समय का भोजन उपलब्ध करा सकता है। अपने 10 गुंठा क्षेत्रफल को वे इस प्रकार विभाजित करते हैं :–

1. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में घर बनाना।
2. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में फलों की खेती।
3. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में अनाज की खेती।
4. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में अंकुरित दालें और।
5. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में भण्डार और कारखाना।
6. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में मसाले आधे गुंठे में तिलहनी फसलें आधे गुंठे में।
7. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में सब्जियाँ।
8. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में बकरी या मुर्गी पालन।
9. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में कपास की खेती।
10. गुंठा (1000 वर्ग फीट) में जलाऊ लकड़ी।

दाभोलकर जी के कार्यों से प्रभावित मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री माननीय श्री दिग्विजय सिंह ने उन्हें भोपाल आमंत्रित किया। दाभोलकर जी ने साफ शब्दों में कहा कि मैं पहले श्री दिग्विजय सिंह जी से मिलना चाहूँगा। बाद में मुख्यमंत्री से और उसके बाद उनके अधिकारियों से । मैं श्री दिग्विजय सिंह से इसलिए मिलना चाहता हूँ ताकि वे एक व्यक्ति की हैसियत से मेरी बात समझें अधिकारियों के पहले मुख्यमंत्री से इसलिए मिलना चाहता हूँ क्योंकि यह विज्ञान केवल कृषि विज्ञान नहीं बल्कि सामाजिक विज्ञान है। दाभोलकर जी को बाकायदा मुख्यमंत्री निवास पर बुलाया गया। अधिकारियों से उनकी मुलाकात हुई। उनके दृष्टिकोण

से प्रभावित कई प्रशासकीय अधिकारियों ने अपने अपने विभागों के विकास का पूरा कार्य उन्हें सौंपने की पेशकश की दुग्ध महासंघ ने दाभोलकरजी से प्रार्थना की। कि वे जिलों के समस्त दुग्ध उत्पादकों को प्रशिक्षण दें। कृषि संचालक ने अपने राज्य के समस्त कृषि प्रक्षेत्रों को प्रयोगों के लिए दाभोलकरजी को देने की पेशकश की परंतु दाभोलकरजी ने विनम्र शब्दों में दोनों की पेशकश ठुकरा दी। उनका कहना था कि विकास का कोई एक फार्मूला नहीं होता है, जिसका विकास करना है उसकी स्वयं की भागीदारी और उसमें साथ-साथ काम करते हुए सीखने की और सीखते हुए काम करने की ललक होनी चाहिए। दाभोलकरजी उन दिनों आसाम शासन के आमंत्रण पर वहाँ 20-25 दिन रहे। वहाँ उन्होंने कृषि विकास का नया मॉडल तैयार किया। वहाँ से जब लौटे तब उनका 77 वर्ष का शरीर थक चुका था। एक अल्प बीमारी जानलेवा साबित हुई और अन्ततः बिना किसी कृषि शिक्षा डिग्री प्राप्त यह कृषि वैज्ञानिक 30 अप्रैल 2001 को इस धरती से उठ गया।

दाभोलकरजी के अवसान के बाद भी उनके द्वारा स्थापित प्रयोग परिवार न केवल जीवित है वरन् पूरे भारत में अलग-अलग राज्यों में उनके स्वप्रेरित अनुयायियों द्वारा 10 गुंठा प्रयोग से जुड़ा हुआ है । अलग-अलग भाषाओं के, रहन सहन, पार्श्वभूमि के कोई, पच्चीस-तीस समूह हर वर्ष एक स्थान पर एकत्रित होते हैं, दाभोलकरजी के कार्यों की समीक्षा करते हैं, उन्हें याद करते हैं और अपने-अपने समूहों में किए गए 10 गुंठा प्रयोगों पर चर्चा करते हैं।

दाभोलकरजी ने अपने जीवनकाल में कृषि पर पुस्तकें भी लिखीं, मगर अधिकतर पुस्तकें मराठी या अंग्रेजी में है। अंग्रेजी में उनकी लिखी पुस्तक "प्लैण्टी फॉर ऑल" न केवल भारत में बल्कि बाहरी देशों में भी सराही गईं। दाभोलकरजी के कार्यों से प्रभावित होकर प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयीजी ने तो उनके तत्कालीन वैज्ञानिक सलाहकार और आज के राष्ट्रपति ए.पी. जे. अब्दुल कलाम को दाभोलकर जी से मिलवाया। उन्होंने पूरे दो घण्टे चर्चा की। कलाम साहब ने उनकी पुस्तक "प्लैण्टी फॉर ऑल" पूरी पढ़ डाली। जब कलाम राष्ट्रपति बने तब उन्हे दाभोलकरजी के निधन का समाचार प्राप्त हुआ तो उनके मुँह से निकला "मैंने एक अच्छा मित्र खो दिया"। दाभोलकरजी को कांग्रेस अध्यक्ष श्रीमती सोनिया गांधी ने भी चर्चा के लिए बुलाया था। उनकी इच्छा थी कि दाभोलकरजी उत्तर भारत में अपने प्रयोगों को दोहराए। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने भी भारत के विभिन्न राज्यों से कृषि वैज्ञानिकों को बुलाकर दिल्ली में दो दिनों तक दाभोलकरजी से चर्चा सत्र आयोजित किए परंतु आज भी केवल शासकीय बुद्धि से पूरी तरह केन्द्रीय स्तर पर प्रायोजित कृषि विज्ञान को एक वाहन की तरह हाँकने वाले हमारे कृषि वैज्ञानिक शायद दाभोलकरजी को या तो भूल गए होंगे या उन्हें शायद ही मालूम होगा कि गणित का यह प्राध्यापक इतनी सरल भाषा में कृषि विज्ञान जैसे गहन विषय पर कैसे काम कर सकता है। दाभोलकरजी के ज्येष्ठ शिष्य श्री दीपक सचदे आज भी पूरी तन्मयता से पनवेल-गोवा मार्ग पर (पनवेल से 14 किमी दूर तारा गाँव में) युसुफ मेहर अली सेंटर फॉर रुरल डेवेलॅपमेंट में उनके प्रयोगों को परवान चढ़ा रहे हैं। न केवल देश के मगर विदेशी किसान भी दीपकभाई से नियमित शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। उमरगाँव वलसाड गुजरात के भास्कर सावे, निफाड (नाशिक) तालूका के ग्राम कस्बे सुकेणे के वासुदेव चिंतामण काठे, बेडकीहाल (बेलगॉव) के सुरेश देसाई लातुर (महाराष्ट्र) के वैजनाथ ओट्टये, सतारा की डॉ. शैलजा दाभोलकर, सोलापुर के अरुण देशपांडे दाभोलकरजी के 10 गुंठा खेती अभियान को आज भी सफलता पूर्वक अंजाम दे रहे हैं।

घ. डॉ. राधेलाल रिछारिया

प्रतिभा और महत्वाकांक्षा से ओत–प्रोत कई वैज्ञानिक आपको मिल जाएंगे लेकिन ऐसे बिरले ही होते हैं जो हमेशा ऊपर देखने के बजाय नीचे देखकर चुपचाप अपना काम करते रहते हैं। ऐसे ही एक कृषि वैज्ञानिक हमारे यहाँ हो गए जिन्होंने ताजिंदगी गरीब तबके के किसानों के लिए अपने अनुसंधान की दिशा बदल दी। वे चाहते तो अंतराष्ट्रीय स्तर पर फैले उनके नाम का उपयोग कर विदेशों में मोटी तनख्वाह लेकर बैठ जाते, परंतु वह नहीं गए। चावल अनुसंधान से जुड़ा शायद ही कोई वैज्ञानिक होगा जिसने डॉ. राधेलाल हरलाल रिछारिया का नाम नहीं सुना होगा । एक विद्यार्थी के रूप में राधेलाल ने नागपुर से एम. एस.सी. की उपाधि प्राप्त की और शिष्यवृत्ति लेकर वे आय.सी.एस. करने केम्ब्रिज गए। लेकिन उनका मन कृषि विज्ञान में रम चुका था। केम्ब्रिज के प्रसिद्ध वनस्पति शास्त्री प्रो. हडसन किसी मकसद से जब नागपुर गए थे तब उन्होंने राधेलाल रिछारिया की प्रतिभा देखी थी। उन्होंने राधेलाल को वहाँ आने का न्यौता दिया। इन्हीं कारणों से युवा राधेलाल प्रो. हडसन के पास पहुँचा और उनके मार्गदर्शन में डॉक्टरेट करने की इच्छा व्यक्त की। प्रो. हडसन ने तुरन्त राधेलाल को केम्ब्रिज में दाखला दिया और केवल 2 वर्ष में ही राधेलाल, डॉ. राधेलाल रिछारिया बन गए, वह भी मात्र 25 वर्ष की आयु में।

भारत आकर डॉ. रिछारिया ने बिहार में कृषि अनुसंधान संस्थान में 15 साल काम किया। उसके बाद वे कटक में केन्द्रीय चावल अनुसंधान के डायरेक्टर बना दिए गए। बहुत जल्दी कटक का यह अनुसंधान केन्द्र पूरे विश्व में प्रतिष्ठा पा गया, मगर उनकी प्रतिभा और ईमानदारी उनके साथियों के लिए आँख की किरकीरी बन गई। लिहाजा डॉ. रिछारिया को कटक छोड़ना पड़ा और वह सन् 1971 में म.प्र. शासन के कृषि सलाहकार और रायपुर में म.प्र. चावल अनुसंधान केन्द्र के प्रमुख बन गए। यहाँ वे छः साल तक रहे। यहाँ उन्होंने पुरानी पारम्परिक चावल की किस्मों की खोज और उनका संवर्धन प्रारम्भ किया। उन्होंने चावल की 20000 प्रजातियों को खोजा और सवारा। उन्होंने भारत की बेशकीमती वनस्पतियों पर भी ग्रंथ तैयार किया। अपनी पत्नी तथा 1984 में पुत्र की मृत्यु का उन्हें गहरा सदमा लगा। उसी समय हुए भोपाल गैस रिसन के वह भी शिकार हुए। उनकी नजर कमजोर पड़ गई, बावजूद इसके वे अन्त समय तक अपने काम में लगे रहे।

आज जैव विविधता पर न केवल हमारा देश मगर पूरा विश्व चिंतित है । जैव विविधता का मूल मंत्र स्थानीय तथा पारम्परिक वनस्पतियों का संवर्धन है जिसमें चावल पर किया डॉ. रिछारिया का काम अजरअमर हो चुका है।

संदर्भ ग्रन्थों की सूची

- कृषि पाराशर – प्रकाशन एशियन एग्री–हिस्ट्री फाउन्डेशन, हैदराबाद वर्ष 1999.
- वृक्षार्युवेदक–सुरपाल–प्रकाशन एशियन एग्री–हिस्ट्री फाउन्डेशन, हैदराबाद वर्ष 1997
- कइयपिय कृषि सूक्ती–प्रकाशन एशियन एग्री–हिस्ट्री फाउन्डेशन, हैदराबाद वर्ष 2002
- नुस्कान्दर–फननी–फलाहात–दाराशिकोह–सुरपाल–प्रकाशन
  एशियन एग्री – हिस्ट्री फाउन्डेशन, हैदराबाद वर्ष 2001
- रिपोर्ट आन दि इम्प्रूवमेंट ऑफ इंडियन एग्रीकलचर–लंडन–जॉन अगस्टीन वोलकेयर 1896
- प्लैंटी फॉर ऑल प्रो.एस.ए. दाभोलकर कोल्हापुर–1998
- आस्किंग द अर्थ द स्प्रेड ऑफ अनसस्टेनेबल डेवलपमेंट विनि परैरा और जर्मीसीबुक 1996
- द सिक्रेट लाइफ ऑल प्लॉंटस्–पीटर टाम्मकिन और क्रिस्टोफर – बर्ड – लंडन–1973
- सोशल लाईफ ऑफ प्लॉंटस्–सुकन्या दत्त नेशनल बुक ट्रस्ट 2002
- जगदीशचन्द्र बोस–सुकन्या दत्त नेशनल बुकट्रस्ट 1973
- ग्राउंड वाटर–इन वृहत संहिता इ.ए.वी. प्रसाद श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरूपति 1980
- वाटर क्वालिटी इन भाविमिश्राज भावप्रकाश श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय तिरूपति 1979
- हिन्दुइज्म एण्ड इकॉलॉजी सीडस् आफ टुथ रणछोड़ प्राईम 1994
- बुद्धिज्म एण्ड एकोलॉजी–संपादन मार्टिन बैचलर एण्ड केरीब्राउन, लंडन 1994
- भारत की नदियाँ, राधाकांत भारती नेशनल बुक ट्रस्ट 1998
- एग्रीकल्चर टेस्टामेंट–डॉ अलबर्ट हावर्ड 1940
- वनस्ट्रॉं रिवोल्युशन–सान मासानोबू फुकुओका–
- द सोर्सबुक ऑफ आर्गेनिक फार्मिंग–संपादन–क्लॉड अलवारिस अदरइंडिया प्रेस, गोवा 1994
- एग्री हिस्ट्री फाउन्डेशन त्रैमासिक के सभी 27 अंक 1994 से 2003 तक
- एक या कार्वर–मेहता प्रकाशन वीणगवाणकर 1998
- दिग्रेटेस्ट जीन रॉबरी ऑफ इंडिया
- बिटिया के नाम पत्र जवाहरलाल नेहरू

लेखक परिचय

अरुण डिके ने सन् 64 में आर.ए. के. कृषि महाविद्यालय सीहोर से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। बाद में 4 साल इन्दौर कृषि महाविद्यालय में कपास पर अनुसंधान और 6-7 साल मुंबई की एक बहुराष्ट्रीय कंपनी में कृषि रसायन बेचे। 14 साल इन्दौर में कृषि रसायन और बीजों का व्यापार किया।

सन् 86 में आपको एहसास हुआ कि पौधों की आंतरिक रचना और अपनी खेती को समझे बगैर खेती लाभकारी और पर्यावरण प्रिय नहीं हो सकती। लिहाजा आपने पूरा समय जैविक खेती के शोध, अभ्यास, लेखन और जैविक आदानों के उत्पादन व्यवसाय में लगा दिया।

इसके पूर्व आपने जैविक खेती प्रारंभ करने वालों के लिए ''जैविक खेती के प्रमुख सूत्र'' नाम से एक पुस्तिका भी प्रकाशित की है।

हमारी खेती

कल-आज-कल

वराहमिहिर, पाराशर, कश्यप और सूरपाल जैसे कृषि ऋषि वैज्ञानिकों ने इसी मिट्टी में, इसी आकाश के तले पैदा होने वाले वृक्षों और फसलों में कैसे-कैसे अनुसंधान किए, अपनी ही धरती से जुड़े कुछ देसी और विदेशी कृषि वैज्ञानिकों ने कितनी सरल बातों में धरती के रहस्य समझाए ये समझे बिना आज और कल की खेती या बागवानी की दिशाएँ निर्धारित करना संभव नहीं होगा।

अरुण डिके

प्रकाशक

एज्युकेशनल एड-क्राफ्ट

6, सिख मोहल्ला, मेन रोड, इन्दौर - 452 007 म.प्र.